JULY, 1997

ह्रीं

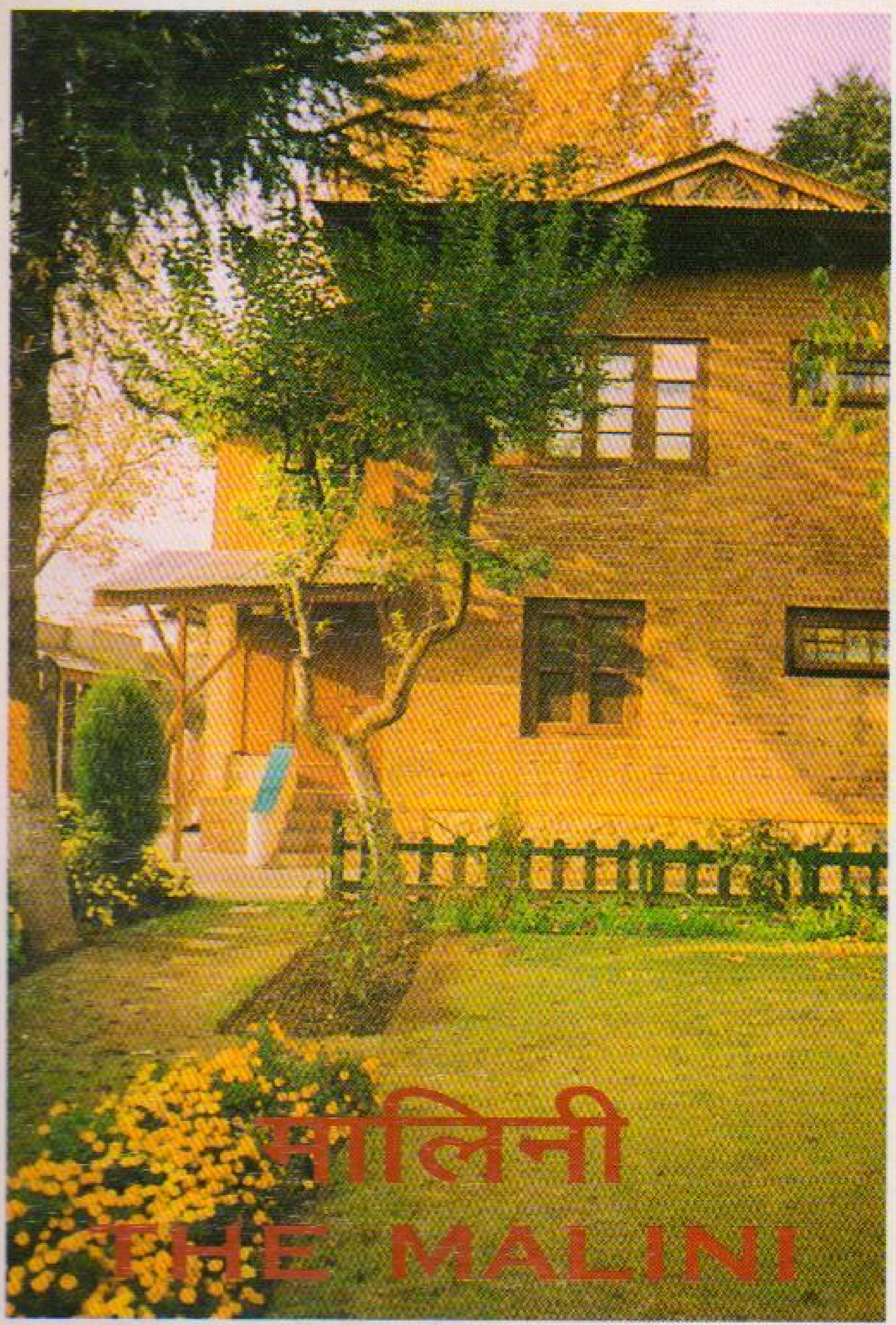

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Vol. IX JULY, 1997

ह्रीं

मालिनी

THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :
Sri Inderkrishan Raina
(Secretary/Trustee)
Sri Samvit Prakash Dhar
Sri Brijnath Kaul
Sri Mohankrishan Wattal

Editorial Board :
Sushri Prabhadevi
Prof. Nilakanth Gurtoo
Pandit Jankinath Kaul 'Kamal'
Prof. Makhanlal Kukiloo
Sri Somnath Saproo

Sri Vijay Kumar Kaul
(Co-ordinator for Delhi & Srinagar Branch)

Sri Brij Mohan
(Co-ordinator for Jammu Branch)

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram Trust
Delhi Chapter
C/o Capt. Kachroo
J-77 Kalkaji, New Delhi - 110 019
Tel. : 6430226

July 1997
Price : Rs. 15.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से			4
1.	Śiva Sūtras	*Svāmī Laksmaṇa Joo Mahārāj*	6
2.	Kālī in Tantrāloka	*Dr. B. N. Pandit*	11
3.	Mokṣa and means of its attainment in Kashmir Śaivism	*John H. Hughes*	17
4.	Self-Enquiry is Gayatri	*Sh. Jankinath Kaul Kamal*	25
5.	Sri Rudram in Saivāgamas	*Sh. Daleep Thusu*	28
6.	विज्ञान भैरव – समीक्षात्मक अध्ययन	*ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज*	30
7.	साम्बपंचाशिका–एक विवेचन	*प्रो० नीलकंठ गुरटू*	36
8.	अमृतवाक्य रूपान्तर–गफलत	*सुश्री शारिका देवी जी*	40
9.	सद्गुरु गाथामाला	*प्रो० मखनलाल कुकिलू*	43

सम्पादक की लेखनी से

कभी कभी जब सन्देह के अनगिनत बादल हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं, विश्वास डगमगाता है, कर्तव्यमार्ग पर चलना दूभर होता है, समाज के बन्धनों को ढोते ढोते थकान का अनुभव होता है, जीवन में मधुरता, जीवन्तता और चैतन्यता कोसों दूर भाग जाती है तो सद्गुरु महाराज की मधुरस्मृति ही संजीवनी औषधी का काम करती है। उनके प्रति श्रद्धा, अटूट निष्ठा व अदम्य भावना, हृदय को जाग्रत कर कर्मक्षेत्र की ओर पुनः प्रोत्साहित करती है, हृदय पर पड़े कालुष्य के आवरण को हटाकर उसे उज्जवल बनाती है, आध्यात्मिक स्पन्दन प्रेषित कर भौतिक चमचमाहट के अकल्याणकारी प्रभाव को दूर करती है और महाविभूति की छवि की शीतलता प्रदान कर तापों से विमुक्त करती है। कबीर के शब्दों में–

सद्गुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावन हार॥

गुरु पूर्णिमा के महोत्सव पर सद्गुरु महाराज के इस अनन्त माहात्म्य का बार बार स्मरण करते हुए अन्तर्दृष्टि सम्पन्न पुण्यात्मा जिज्ञासु साधकों को गुरुचरणों में सदा नतमस्तक होके सन्मार्ग पर चलकर अपने जीवन को सफल बनाना चाहिए।

सद्गुरु महाराज की कृपा से तीसरे वर्ष में ''मालिनी'' के शुभचरणों का पड़ना समस्त गुरुपरिवार तथा माननीय पाठकों के लिए अपार प्रसन्नता का विषय है। विगत दो वर्षों में अनेक मतभेदों के होने पर भी जिस साहस और धैर्य से मालिनी ने अपने डगमगाते हुए अनमोल आठ कदम धरती पर डाले उनसे इसकी सहनशीलता और स्थिरता का आभास अनायास ही होने लगा। यद्यपि प्रारम्भिक समय प्रत्येक नवीन कार्य के लिए परीक्षा का समय होता है, तथापि सद्गुरु महाराज की अनन्य प्रेरणा और शुभाशीर्वाद के परिणाम स्वरूप परीक्षा की घड़ियां भी इसने महोत्साह से बिताई। आदरणीय विद्वद्वरों ने जिस लगन और भक्तिभाव से इसकी शारीरिक संरचना में हाथ बँटाया उसके लिए हम सब उनके आभारी हैं। हमें आशा है कि विकासोन्मुख मालिनी के प्रति उनकी जागरूकता सदा बनी रहेगी जिससे मालिनी का परिवार भी दिन प्रतिदिन फलता फूलता नजर आयेगा।

यह अतीव हर्ष की बात है कि मालिनी के प्रस्तुत अंक से हमने दो बहुमूल्य शैवग्रन्थों की लेखमाला का सूत्रपात किया। कश्मीर शैवदर्शन के बहुचर्चित आगम ग्रन्थों ''शिवसूत्र'' और ''विज्ञान-भैरव'' का समीक्षात्मक विवेचन स्वामी जी महाराज ने अवर्णनीय रीति से आज से दो दशक से भी अधिक समय से पहिले अपने भक्तजनों और विदेशी जिज्ञासुओं के हितार्थ किया था। यद्यपि शिवसूत्रों के केवल सूत्रों का ही अंग्रेजी भाषा में स्वामीजी का अनुवाद हमने मालिनी

के चौथे अंक में प्रकाशित किया था पर क्षेमराज की विमर्शिनी टीका का अनुवाद हमने कुछेक कारणों से आरम्भ नहीं किया था। अब सद्गुरु महाराज के आशीर्वाद से शिवसूत्र की विमर्शिनी टीका का अंग्रेजी अनुवाद इस अंक से आरम्भ किया जो निरन्तर रूप से मालिनी के आगामी अंकों में चलता रहेगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेजी भाषा में यह विस्तृत व्याख्या स्वामी जी महाराज ने जून १९७५ में अपने ईश्वराश्रम, निशात, श्रीनगर में आरम्भ करके सन् १९७६ के प्रथम पाद तक निरन्तर रूप से की थी। इसके अतिरिक्त श्री स्वामी जी महाराज के द्वारा दिये गये विज्ञान-भैरव के प्रवचनों का भी रूपान्तरण करके हमने इसी अंक से उनका भी श्रीगणेश किया। प्रवचनों का गाम्भीर्य इतना है कि आजतक जितने भी इनेगिने विद्वानों ने इस पर लेखनी उठाई है, उनसे ये प्रवचन बिल्कुल अलग-थलग हैं। कई पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या स्वामी जी के मुखारविन्द से नये ही अन्दाज़ में हुई है क्योंकि ऐसी व्याख्या के लिए पांडित्य से कहीं अधिक आन्तरिक अनुभवों का होना अनिवार्य है। इस प्रकार कम से कम आगामी दस सालों के लिए मालिनी का उपवन इन दो अनाघ्रात पुष्पों की सुरभि से सुरभित रहेगा और इस उपवन में टहलने वालों के मन व मस्तिष्क को अपूर्व चमत्कार से चमत्कृत करेगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

मालिनी के सम्पादक मण्डल के एक सदस्य श्री जानकीनाथ कौल 'कमल' का, भारत सरकार की ओर से परम्परागत परिपाटी से संस्कृत भाषा में विद्वत्ता प्राप्त विद्वानों की सूची में इस वर्ष ९ जून को अन्य संस्कृत विद्वानों के साथ चयन व राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया जाना, ईश्वराश्रम ट्रस्ट तथा मालिनी के अन्य सम्पादकों के लिए अत्यन्त गौरव की बात है। श्री जानकीनाथ जी कौल 'कमल' को ईश्वराश्रम का गुरुपरिवार इस सम्मान के लिए हार्दिक बधाई देकर उनके दीर्घायु की कामना करता है।

स्थानाभाव के कारण अष्टोत्तर शतनामावली का अंग्रेजी अनुवाद तथा कश्मीर शैवदर्शन के वातायन से नामक लेख जो क्रमशः गतांको से चल रहे थे इस अंक में प्रकाशित न कर सके। असुविधा के लिए क्षमाप्रार्थी हैं।अन्त में उन कार्यकर्त्ताओं के प्रति आभार प्रकट करना हमारा कर्तव्य है जो मालिनी के प्रचार-प्रसार के लिए अमूल्य समय देकर इसका दिन प्रतिदिन संवर्धन करने में दत्तचित्त हैं। आज की गुरुपूर्णिमा पर सद्गुरु महाराज हम सब को सद्बुद्धि प्रदान करे और उस शिव-भावना से रंजित करे जिसका वर्णन शिवदृष्टिकार सोमानन्द इस प्रकार करते हैं—

शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संस्तुते।
काष्ठ-कुड्यादिषु क्षिप्ते रसवत् शिवहेमता॥

जय गुरुदेव।

गुरु पूर्णिमा
जुलाई, १९९७

प्रो० मखनलाल कुकिलू

Śiva-Sūtras

Śiva-Sūtras, believed to be a Śivopaniṣat-Saṅgraha, are a compendium containing secret doctrine revealed by Lord Śiva. It is said that Lord Śiva appeared before sage Vasugupta in a dream and directed him that the secret doctrines inscribed on a particular rock on the Mahādeva mountain, be studied and taught to those who are fit for grace. On awakening sage Vasugupta visited the spot and found the Sūtras engraved on the big rock which is still known as 'Śamkaropala' (शंकर पल). Sage Vasugupta, having fully experienced this unique doctrine, revealed it to his chief disciple Bhattakallatta, who flourished in the reign of king Avantivarman of Kashmir. As the king reigned in the 9th century A.D. Vasugupta being the master of Kallatta, must have been in the last part of the 8th or in the beginning of the 9th century A.D. This must have been the date of the discovery of Śiva Sūtras. There were many commentaries of Śiva Sūtras available in Kṣemarāja's time but after finding confusion and inconsistancy in them he wrote an elaborate commentary namely "Vimarśinī". It was altogether a fresh and as per traditional teachings of Śaivī Gurus. This has been explained by Kṣemarāja himself in the beginning of Vimarśinī commentary as :—

"शिवसूत्रं व्याकरोमि गुर्वाम्नाय विगानतः"।

A prolific writer and highly learned disciple of Ācārya Abhinavagupta, Kṣemarāja must have written this Vimarśinī commentary on Śiva Sūtras, in the 10th century A.D. The Sūtras are divided in three awakenings (उन्मेष) dealing with three means (उपाय) viz. Śāmbhava, Śākta, and Āṇava respectively. Thus these Śiva Sūtras are a treatise on Śaiva-yoga—supreme identity of the individual self with the divine.

It is our duty to mention here that these Śiva Sūtras alongwith Vimarśinī commentary of Ācārya Kṣemarāja were explained in simple English by our beloved master Shri Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāja in the year 1975 at his Īśwara Ashram situated in the vicinity of the famous Mughal Garden Nishat, Srinagar, Kashmir.

The English translation of these Sūtras, alongwith Vimarśini commentary is highly rewarding and full of personal yogic experiences of our

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज

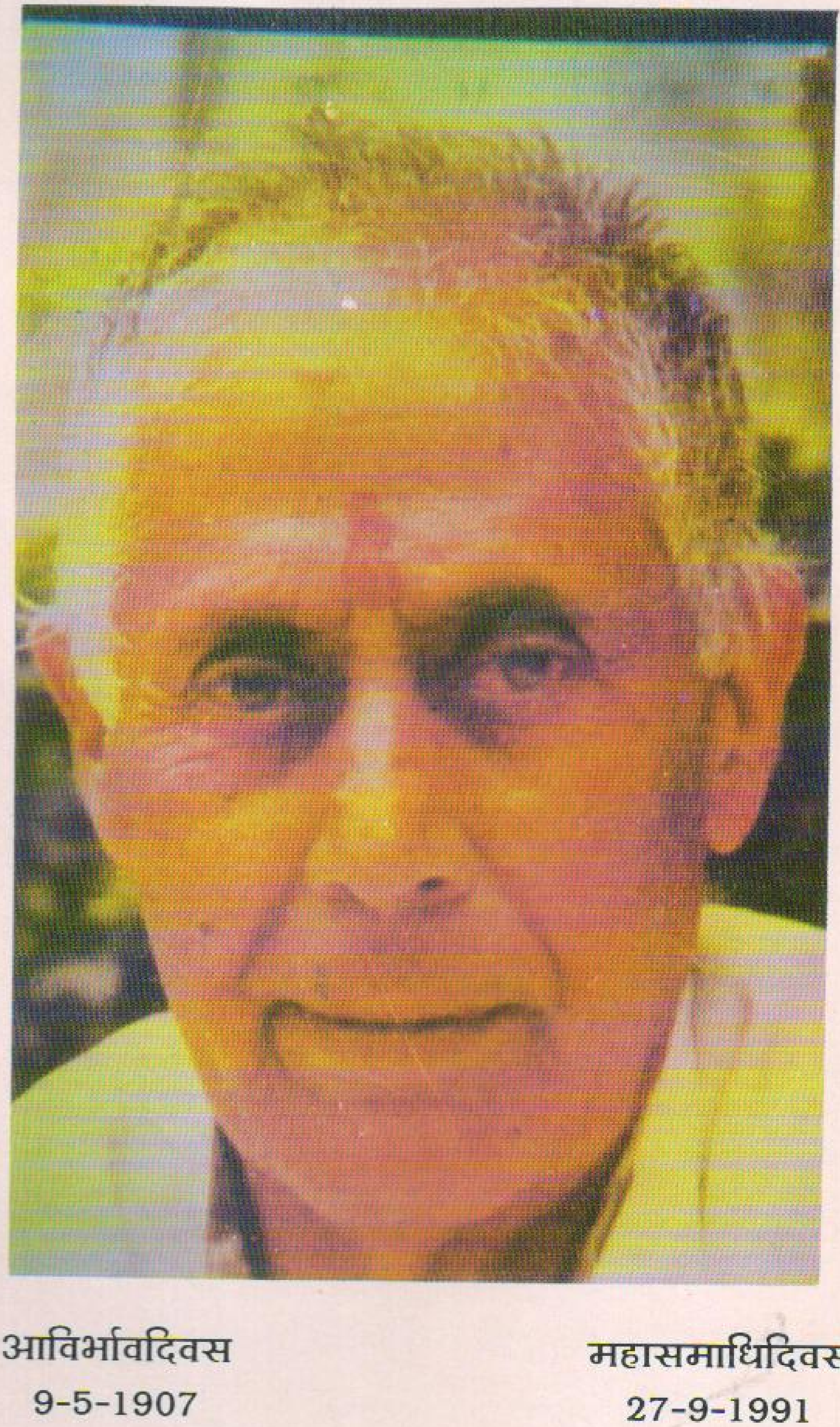

आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

beloved Sadguru Māharāja. Īśwar Ashram Trust feels honoured by publishing this unique Āgama Śāstras from this issue of Mālini, in exactly the same way as has been explained by Svāmī Jī Māharāja"

It is pertinent to mention here that Śiva Sūtras are seventy seven in total and four commentaries are available on them at present :-

(i) Vimarśinī Commentary. This Commentary is in lucid Sanskrit written by Kṣemarāja of the 10th Century A.D.

(ii) Śivasūtra Vṛtti in prose by some unknown writer.

(iii) Śivasūtra Vārtika by Bhāskara of the 11th century A.D. It is in verse.

(iv) Śiva Sūtra Vārtika by Varadarāja. It is in verse. Sh. Varadarāja flourished at the end of the 15th century A.D.

Of the all above said commentaries Vimarśinī of क्षेमराज is the oldest and the most comprehensive.

***

Śiva-Sūtras[1]

With Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrī Kṣemarāja

Translated into English by
Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāja

FIRST SECTION

These Śiva-Sūtras are of Lord Śiva Himself. The commentator is Kṣmarāja, the disciple of Abhinavagupta. First verse in the form of Mangalācaraṇa - an auspicious verse, is as follows :-

रुद्रक्षेत्रज्ञवर्गः समुदयति यतो यत्र विश्रान्तिमृच्छेद्
यत्तत्वं यस्य विश्वं स्फुरितमयमियत् यन्मयं विश्वमेतत्।
स्वाच्छन्द्यानन्दवृन्दोच्छलदमृतमयानुत्तर स्पन्दतत्त्वं

1. Svāmī Lakṣman Joo, translation and commentary on Śiva Sūtras Vimarshini, June 1975. Tape recording in possession of the editor.

चैतन्यं शाङ्करं तज्जयति यदखिलं द्वैतभासाद्वयात्म॥

जयति– I surrender my body and mind तत्– to that, शाङ्करं चैतन्यं– Supreme God-Consciousness of Śiva, यद्– who is, अखिलं– the whole universe, द्वैतभासाद्वयात्म– and who is one in many and यतः– from whom, रुद्रक्षेत्रज्ञवर्गः– the class (वर्गः) of रुद्र and क्षेत्रज्ञ, समुदयति– get rise, and यत्र– in whom, विश्रान्ति ऋच्छेत्– these two classes come to rest.

रुद्र– Rudras are those beings who are already filled with God-Consciousness from times immemorial in an eternal way and क्षेत्रज्ञ– (Kṣetrajñas) are those beings who have obtained fullness of God-consciousness from साधना (Sādhanā)

यत् तत्त्वं– which is the fundamental Reality, यस्य विश्वं स्फुरितमयं इयत्– this world of consciousness is filled in with that supreme state of God-Consciousness, यन्मयं विश्वं एतत्– and this whole universe is one with that Supreme God-Consciousness and that state of God-Consciousness is स्पन्दतत्त्वं– that reality of Supreme movement which is अनुत्तर– unique and अमृतमय– filled with nectar, आनन्द वृन्द उच्छलत्– and flow of supreme bliss of स्वाच्छन्द्य– independence.

I surrender my body and mind to that Supreme God-Consciousness of Lord Śiva, who is this whole universe and who is one in many and from whom the class of Rudra and Kṣetrajñas get rise and in whom these two classes come to rest. That supreme God Consciousness is the fundamental Reality and this world of consciousness is filled with that supreme state of God Consciousness. This whole universe is one with that supreme God-consciousness and that is the reality of Supreme movement which is unique, filled with nectar and flow of supreme bliss of independence.

आसमञ्जस्यमालोच्य वृत्तीनामिह तत्त्वतः।
शिवसूत्रं व्याकरोमि गुर्वाम्नाय विगानतः॥

आसमञ्जस्यं– inconsistency, आलोच्य– having seen वृत्तीनां– of commentaries, इह– in Śiva Sūtras, तत्त्वतः– in reality, व्याकरोमि– I commentate upon शिवसूत्रं– Śivasūtras a fresh, गुरु– my master, आम्नाय– Śāstras, विगानतः– by taking protection of.

Although I (Vasugupta) see that there are many commentaries on Śiva Sūtras available at present, but I find that they differ from each other and

they are absolutely in-correct. So I commentate upon it afresh, by taking protection of my master and Śāstras.

इह कश्चित् शक्तिपातवशोन्मिषन्माहेश्वरभक्त्यतिशयात् अनङ्गीकृताधर दर्शनस्थ नागबोध्यादि–सिद्धादेशनः, शिवाराधनपरः पारमेश्वर नानायोगिनी सिद्धसत्संप्रदाय पवित्रित हृदयः श्रीमहादेवगिरौ महामाहेश्वरः श्रीमान् वसुगुप्त नामा गुरुरभवत्।

इह– in this valley of Kashmir, कश्चित्– extraordinary, शक्तिपात वशोन्मिषत् माहेश्वर भक्त्यतिशयात्– purified by the grace of Lord Śiva and was filled with entire devotion of Lord Śiva. अनंगीकृत– did not accept, अधरदर्शनस्थ– prevalent in the inferior philosophical systems, नागबोधि आदि सिद्ध–Nāgabodhi etc. and Siddhas, आदेशतः– the teachings, शिवाराधानपरः– since he was bent upon the devotion of Lord Śiva पारमेश्वर– belonging to Supreme Lord, नानायोगिनी सिद्ध– of the various yoginī and Siddhas, सत्संप्रदाय– by the accurate traditional teaching, पवित्रित हृदयः– whose heart had become pure, श्रीमहादेवगिरौ– at the foot of Mahādeva mountain, महामाहेश्वरः– the great devotee of Lord Śiva, श्रीमान्– who was unique in every respect, वसुगुप्तनामा– known by the name of Vasugupta, गुरु– one master, अभवत्– was residing.

Sometimes before, in the valley of Kashmir, on the foot of Mahādeva mountain, there lived a great devotee of Lord Śiva, known by the name of Vasugupta. He was altogether unique and was purified by the grace of Lord Śiva. Since he was bent upon the devotion of Supreme Lord and his heart had become pure by the accurate traditional teachings of the various yogini[2] and Siddhas[3], belonging to the Supreme Lord, did not accept the teachings of Nāgabodhi etc. and Siddhas, common in the inferior philosophical systems.

कदाचिच्च असौ द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसंप्रदायो मा विच्छेदि, इत्याशयतः अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषित प्रतिभः कृतः यथा "अत्र महीभृति महति शिलातले रहस्यम् अस्ति तत् अधिगम्य अनुग्रहयोग्येषु प्रकाशय" इति। प्रबुद्धश्च असौ अन्विष्यन् तां महतीं शिलां

1. Mahādeva mountain is about 18 kms away from Srinagar, behind the famous Mughal Garden "Harvan". 2. Female yogis who had realized the truth as exposed in Śaiva Śāstras. 3. Perfect self-realized male yogis.

करस्पर्शनमात्रपरिवर्तनतः संवादीकृतस्वप्नां प्रत्यक्षीकृत्य इमानि शिवोपनिषत्संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद 'एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान्। तत्पारम्पर्य प्राप्तानि स्पन्दसूत्राणि अस्माभिः स्पन्दनिर्णये सम्यक् निर्णीतानि। शिवसूत्राणि तु निर्णीयन्ते।

कदाचित्– Once upon a time, असौ– this great master Vasugupta अधिवासित प्राये– mostly influenced with, द्वैतदर्शन– dualistic philosophical view, जीवलोके– in the world, रहस्यसंप्रदायः– traditional secret teaching, मा– may not, विच्छेदि– be lost, इत्याशयतः– with this idea, अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषित प्रतिभः कृतः– the great master Vasugupta उन्मिषित प्रतिभाः was blessed by Lord Siva in dreaming state who was अनुजिघृक्षापरेण– bent upon in giving him knowledge of Truth, and after appearing before him in dream, Lord Śiva ordered him that अत्र महीभृति– here at Mahādeva mountain महति शिलातले– there is a big rock, रहस्यम् अस्ति– and under that rock, my secret Sūtras are engraved तत् अधिगम्य– those Śiva Sūtras be concentrated and meditate upon them, after getting the knowledge of them, प्रकाशय– spread the theory and secret of Śiva Sūtras to those अनुग्रहयोग्येषु– who are fit for grace. इति प्रबुद्धश्च– after coming out of dreaming state, अन्विष्यन्– he began to search, तां महती शिलां– that precious rock, करस्पर्शनमात्र परिवतनतः– and by a mere touch of his hand it turned upside down, संवादीकृतस्वप्नां– and whatever he had experienced in his dream प्रत्यक्षीकृत्य– he found them there. ततः समाससाद– and thus he obtained, इमानि शिवसूत्राणि– these Śiva Sūtras, शिवोपनिषत्संग्रहरूपाणि– which are the secret doctrine of Lord Śiva. एतानिच सम्यक् अधिगम्य– having fully understood these. प्रकाशितवान्– he revealed them to, भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु– his chief disciples भट्टकल्लट etc. स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान्– after sometime he exposed these Śiva Sūtras in another book namely स्पन्दकारिका। तत्पारम्पर्यप्राप्तानि स्पन्दसूत्राणि अस्माभिः स्पन्दनिर्णये सम्यक् निर्णीतानि– which have already been explained by me in स्पन्द निर्णय– which have been traditionally obtained direct from Vasugupta. शिवसूत्राणि तु निर्णीयन्ते– now Śiva Sūtras are being explained.

In this world, the traditional secret teaching, mostly influenced with dualistic philosophical view, may not be lost, with this intention once upon a time this great master Vasugupta was blessed in his dreaming state by Lord Śiva, who was hent upon in giving him knowledge of Truth and

after appearing before him in dream Lord Śiva ordered him that at Mahādeva mountain there is a big rock and under that rock my Sūtras are engraved. Those engraved Śiva Sūtras be concentrated and meditated upon. After getting the knowledge spread the theory and secret to those who are fit for grace. When he came out of dreaming state he began to search for that precious rock which by a mere touch of his hand turned upside down and whatever he had experienced in his dream he found them there and thus he obtained these Śiva Sutras which are the secret doctrine of Śiva. Having fully understood them he revealed this secret to his chief disciple भट्टकल्लट (Bhattakallata) etc. and after some time he exposed these Śiva Sūtras in another book namely Spandakārikā (स्पन्दकारिका) already explained by me in Spandanirṇaya (स्पन्दनिर्णय) obtained through traditional teaching, direct from Vasugupta.

Now Śiva Sūtras are being explained:-

(to be continued)

Kālī in Tantrāloka

Dr. B.N. Pandit

The whole objective existence is, just like a dream, a mere phenomenon, and is the result of imagination *(Kalpanā)* of mind in the views of Buddhist Vijñānavāda and western idealism. But, in accordance with the theistic absolutism of the monistic Śaivism of Kashmir, as expressed by Abhinavagupta in his several important works like *Tantraloka etc.* it is not an imagination of any mind, but is an outward manifestation of the divine powers of the absolute consciousness and such manifestation is termed as *Kalanā* which is thus quite different from mental imagination *(Kalpanā)*. Different types of such *Kalanā* of phenomena in the whole universe are conducted by Almighty God through His divine power of Godhead, which is, on such account, termed in Śaivism as *Kālī,* that is, such divine power of God, by virtue of which He conducts all manifestations of different phenomena as well as of His divine activities of cosmic creations etc.

'Kalanā' has been described in *'Tantrāloka'* of Abhinavagupta as a process of clear manifestation in its five steps of growth, termed as *Kṣepaḥ, jñānam, saṃkhyānam, gatiḥ* and *nāda*. Thus says he :

इमाः प्रागुक्त कलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः।
क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्॥

(Imāḥ Prāgukta-Kalanās-tadvijṛmbhocyate yataḥ;
Kṣepo jñānaṃ ca saṃkhyānaṃ gatir-nāda iti kramāt) (T.A. IV-173)

These can be explained as follows :

1. Kṣepaḥ : Everything is basically and in reality the pure and absolute I-consciousness, because such consciousness contains everything in it in the form of its divine potency. That is to say that such consciousness has the power to appear in the form of all phenomena in accordance with its free will which is always playfully active in external manifestation of its infinite and divine potency. Tendency towards such manifestation is the result of the playfulness of its blissful nature. That sportive tendency of such absolute consciousness manifests outwardly all such phenomena as different from it. Such apparent differenciation of the concerned phenomena is known in Śaivism as *`Kṣepa',* meaning throwing out. All inclusive absolute consciousness appears to be throwing outwardly such phenomena out of its own self shining eternally as the omnipotent and infinite I-consciousness. It manifests them outwardly in the state and form of this-ness. These are thus apparently thrown out of I-ness and put in the position of this-ness, the objective position. Such this-ness starts to shine as an entity that is different from I-ness. Each being goes on doing it though he does not realize it as such. Such step of outward manifestation has been defined by Abhinavagupta in these words : *`Svātmano bhedanaṃ kṣepaḥ'*, meaning that *Kṣepa* is to make a thing appear as different from the self (T.A. IV-174)
2. At the second step of phenomenal manifestation the element of I-ness conducts an indefinite perceptive cognition of such differenciated this-ness. Such differenciated this-ness shines initially in the psychic light of I-ness as an object which does not get conceived in any clear definite form and definite name. It shines there through a cognition

which is not accompanied by any definite idea of by any such word - image. Such cognition is known as *'Nirvikalpa-samvedana'* or mere perception without any clear idea and is termed here as jññnam, the second step in objective manifestation. Abhinavagupta explains it thus :

'Bheditasyāvikalpanaṃ jñānam' (T.A. IV-174), meaning that *'jñāna'* is to know a differenciated object through a *'Nirvikalpa'* cognition, a cognition not accompanied by any definite idea or any such word-image. It is on such account that *'Nirvikalpa'* has not been counted in *Nyāya-śāstra* as a direct means of *'Pramā'*, the correct knowledge.

3. The third step in such outward manifestation is that of knowledge accompanied by some definite idea denoted by some definite word, the image of which penetrates such knowledge and becomes its part and parcel. Such definite cognition, throwing light on the name and form of an object, is termed as saṃkhyānam in the context of such types of *'Kalanā'*. The term is to be explained as *'samyak khyānam'* meaning-'making something clearly known'. It should not at all be taken in the sense of samkhyā a mathematical numbering. *Samkhyānam* as a *'Kalanā'* is a *Savikalpa* cognition, that is, a knowledge with a definite conception of an object. It is a cognition with some definite idea and is always accompanied by some definite word-image that denotes such idea. It has been defined thus in *Tantrāloka:*

   "... *Vikalpaḥ saṃkhyānam-anyato vyatibhedanāt"* (T.A. IV-174)." To know something through a *savikalpa* cognition is termed as *saṃkhyānam* because it counts an object as definitely distinct from other similar objects. That is to say that it applies the law of *Apohana* defined as *atad-vyāvṛtti (Vyāvṛtti* - distinctness from *atad* - the entities other than it). Such law of *Apohana,* applied to the object of the concerned cognition, by means of a clear idea about it, is denoted by a definite word-image that shines in its light along with the idea concerned.

4. The fourth step in the process of *Kalanā* consists of bearing the knowledge of an object egotically as a reflection appearing in one's I-consciousness either as "I know such an object" or as "Such an object

is known by me". It is the state of *Pramā,* the correct objective knowledge, the immediate result of *savikalpa* cognition, in accordance with the analysis of knowing worked out in *Nyāya-śāstra.* It has been termed in Śaivism as *`gatiḥ'* meaning knowledge. *(gatir jñānam)* and has been defined thus by Abhinavagupta :

गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेवयत्।

(Gatiḥ svarūpārohitvam pratibimba-vadevayat) (T.A.IV-175)

"Gati is the taking of a reflectional position by an objective idea in the I-consciousness of a knowing subject". The consciousness appears thus as bearing in it the idea of the object concerned.

5. The fifth step of *Kalanā* is that of the feeling of such a self-satisfaction in which the objective appearance of the object concerned becomes totally absorbed into one's self-awareness shining only as pure residual 'I' or *'Ahaṃ'.* It is termed as *'nāda',* meaning pure self-awareness and has been defined thus in *Tantrāloka :*

नादः स्वात्म परामर्श शेषता तत् विलोपनात्।

"Nādaḥ svātma-parāmarśa-śeṣatā tat-vilopanāt". (T.A. IV-175)

"*Nāda* is that residual self-awareness which has fully absorbed into it the objective manifestation".

Such five types of *Kalanā* represent the five divine activities of the Almighty God. *Kṣepa* represents creation *(sṛṣṭi)* and *jñānam* is a type of preservation *(sthiti) Samhāra* or absorption is represented by *gatiḥ. Saṃkhyānam* is a sort of *pidhān or* abscuration and *nāda* represents *anugraha,* the gracious activity of revelation. *Kālī,* appearing in the form of fivefold *Kalanā,* is realized by Śivayogins as the absolute divine power of God through several types of contemplative practices in Śiva-yoga. *Kālīnaya* is the name given to a special type of *Śāktopāya* of the *Trika* system of that yoga. *Śāktopaya* is a practice in self-contemplative meditation. It is a subjective meditation conducted through a practice of the constant repetition of the correct conceptual knowledge *(Savikalpa knowledge)* of the exactly real truth regarding the nature of the self. Kālīnaya is a special type of such practice and has therefore been included in the *'Śāktopāya* of the *Trika* system by Abhinavagupta in both his important

works named *Tantrāloka* and *Tantra-sāra.* It is a contemplative meditation on twelve aspects of *Kālī,* that divine power of God which manifests self as the basic nature of every being. The fivefold *Kalanā,* discussed above, going on with respect to phenomenal existence, is the natural activity of each and every living being, though he may or may not realize it like that. A being goes on conducting it with respect to phenomena around him.

Kālī is basically that divine power of God which conducts fivefold *Kalanā* with respect to whole phenomenal existence, on one hand, and shines in the form of the divine potency of the absolute reality at the position of its transcendental existence, on the other hand. It has been thought over and discovered in its twelve main aspects. *Śivayogins* discovered it as bearing the whole existence at the levels of pure unity of *Śakti* stage, unity in diversity appearing at the stage of *Vidyā* and complete diversity manifested at the stage of *Māyā*. All phenomena must exist in the transcendental state of the absolute consciousness as well, otherwise these could not be manifested at the stages of *Vidyā* and *Māyā*. Therefore Kālī, the divine power of the Absolute, bears everything in it even at the transcendental level. Kālī is thus seen in her four aspects and is termed as *Parādevī, Parāparādevī, Aparādevī* and the all pervading *Kālakarśinīdevī,* the absolute transcendental divine power manifesting and absorbing the conception of time based on the successiveness of different types of manifestation. It is then contemplated upon as conducting creation, preservation and dissolution at all such four levels of existence. Such divine activities shine in the form of that divine stir of Spanda which is aimed at them and which shines as *Parādevi* at the stage of perfect unity. It bears the phenomenon at such stage as identical with it. The phenomenon is borne by *Parāparādevī* in the manner of a reflection of a city shining in a mirror and appearing there as different as well as non-different from it. *Aparādevī* bears it in the manner of a house bearing household articles as entities quite different from it. The original and basic seeds of all phenomena as well as the seeds of creation etc. do exist in the transcendental absolute. *Kālī* is therefore realized as bearing everything and conducting every divine activity in Her transcendental state as well. There she shines as the unitary form of *Parā, Parāparā* and *Aparā* devīs

and is termed there as the absolute *Kāla-karśini,* that is, the power that pushes out, pulls into itself and absorbs the whole conception of Kāla or time which is basically a sense and feeling of successiveness of manifestations. Practically time or Kāla is the name given to the concept of successiveness of events and actions. Succession is called *Krama* in Sanskrit. Since *Kālī* in her transcendental aspect absorbs into her self all conceptions of *Krama* and since Kāla is the name given to concepts of succession, such an aspect of *Kālī* is termed as *Kālakarśinī*. That is the finest and the highest concept of Kālī and her twelve aspects as discussed by Abhinavagupta in his *Tantrasāra* composed by him after having written his *Tantrāloka*. Such concept of twelve Kālīs has been worked out in some other ways as well, because it is not the basic picture of the Absolute, but is a concept about its divine power, useful in contemplative meditation of the *Śāktopāya* of the Trika system of Śaiva monism.

A practitioner of *Kāli-naya* has to see his own consciousness as conducting the fivefold *Kalanā* with respect to *pramātṛ* (the relative subject of knowing), *pramāṇa* (the instrumental means of knowing), *prameya* (the object of knowing) and *pramā* (The correct knowing). He has to repeat constantly such contemplation regarding his own powers and such practice results in his correct self-realization and deepens.

(to be continued)

प्रकाशमाने परमार्थभानौ, नश्यत्यविद्या तिमिरे समस्ते।
तदा बुधा निर्मल दृष्टयोऽपि, किंचित् न पश्यन्ति भवप्रपंचम्॥

When, a yogi remains one pointed he realizes the Sun of Supreme Knowledge, and when his ignorance is ended and he becomes a realized soul, then, no matter whatever he does he is soaked in God-consciousness everywhere and has attained eternal samādhi.

Svāmī Lakṣman Joo Māharāja

Mokṣa and the means of its attainment in Kashmir Śaivism

John H. Hughes[1]

The Sanskrit word *mokṣa* is commonly translated in English as spiritual "liberation" or "freedom". With some exceptions in the *bhakti* traditions it is held by all of the great philosophical and religious traditions of India to be the true and fitting purpose of all human endeavor. Although these traditions teach that the attainment of this human emancipation is the end all be all of spiritual life, they have quite different interpretations of what this term actually means. In fact, there are as many different interpretations of the meaning of *mokṣa* as there are philosophical understandings about the nature of God and the world. And, as the various schools differ in their understanding of the nature of *mokṣa,* so also do they differ in regard to the means *(upāya)* by which it is to be attained.

My intention in writing this article is to introduce the extraodinary soteriology of Kashmir Śaivism. In so doing I will describe the unique understanding of *mokṣa* and the means of its attainment as revealed by this important tradition. I believe that after the reader has a chance to reflect on this theory he/she will find it to be not only unique but also quite profound.

Introduction

The ancient tradition of Kashmir Śaivism is a non-dual *(advaita)* school of philosophy which takes as its source the ninetytwo Tantras of Lord Śiva. This includes the sixty-four monistic Bhairava Tantras, the eighteen mono-dualistic Rūdra Tantras, and the ten dualistic Śiva Tantras. This philosophical tradition is also known by its adherents as Trika. It is called Trika because it encompasses the threefold signs of man and his world. These three signs are *Śiva,* his *Śakti* (energy), and *Jīva* (individual)[2]. Also signified are three primary energies *parā* (supreme) energy,

---

1. A favourite devotee and disciple of Svāmī Lakṣman Joo Māharāja. Mastered main Śiva texts during his long stay at Ishwar Ashram, Nishat, Srinagar and published a few of them from Albany, New York, State University of New York Press. 2. *Śiva* is the creator, *Śakti,* his energy, the means of creation, and *Jīva,* the limited individual, the result.

parāparā (combination of highest and lowest) energy. and *aparā* (lowest) energy. These are also termed *iccha śakti,* the energy of will, *jñāna śakti,* the energy of knowledge, and *kriya śakti,* the energy of action. These three energies represent the threefold activities of the world: knower, knowing, and known. Kashmir Śaivism also known as the Trika tradition, encompasses four systems of philosophy: the Pratyabhijñā system, the Kula system, the Krama system, and the Spanda system.

The teaching of Kashmir Śaivism is so rich and detailed in its descriptions of what it reveals as the ascent of individual consciousness to universal God Consciousness *(Parama Śiva)* that it has been characterized as a mystical geography of awareness. It includes a highly developed system of spirituality that emphasizes not only the intellectual understanding of its concepts, but also the direct realization, the direct experience, of its truth. For Kashmir Śaiva, the very nature of truth, its defining characteristic, is that it is unlimited and universal. The human intellect, on the other hand, is limited and individual. As such it cannot contain within its grasp that reality which transcends it. For the Kashmir Śaiva truth, as universal, is said to be *anirvacanīya,* unspeakable. Words cannot express or reveal it. Any attempt to define and contain it with the spoken word only limits it. If truth is to be known and understood, it must be experienced through direct realization.

Kashmir Śaivism offers many different practical approaches to the realization of the ultimate reality. These different approaches are varied depending on the ability of the seeker. Paul Reps-in his small book entitled *Zen Flesh, Zen Bones*-introduced the English speaking world to one of the central scriptures of Kashmir Śaivism, the *Vijñāna Bhairava Tantra*. In this Tantra are found no less than one hundred and twelve separate means to the realization of the ultimate reality[3].

Cosmology

Understanding *mokṣa* and the means for its attainment in Kashmir Śaivism requires that we briefly examine its non-dual cosmology. One of

3. Paul Reps. *Zen Flesh, Zen Bones*: A Collection of *Zen* and *Pre-Zen Writings* (New York: Anchor Books, n.d.), 161-174.

the more lucid and revealing expositions of this cosmology is given by Abhinavagupta in a short discourse entitled *Bodhapañcadaśikā* or ``Fifteen Verses of Wisdom". Swami Lakṣman Joo, the great modern Kashmir Śaiva philosopher and saint, tells us that these verses capture the essense of the doctrine of Kashmir Śaivism.[4]

In describing the nature of reality, the Kashmir Śaiva explains that there is only One Being, called Lord Śiva. This Being is the nature and existence of all beings. This Being is defined as being filled with the infinite light *(prakāśa)* of God Consciousness. The Śaiva also holds that the objective world, although experienced as separate from one's self, does not have a separate existence. It is the energy (śakti) of Śiva. Although one might conclude that the world is separate from his energy, thinking that his energy is the separate formal cause of the objective world. It is not. The objective world, comprised of the collection of objects, cognitions, and limited subjects, is nothing more than the expansion of the divine *śakti*. It is not separate from Śiva's energy. Lord Śiva is the energy holder *(śaktimān)* and the objective universe is his energy, his *śakti*[5].

But what is the relation of Lord Śiva to his energy? Does Śiva hold this energy as one might hold a tool, to be used in the act of creation? Lakṣmanjoo clarifies this by explaining that if, for the sake of argument, we make the distinction between Śiva and his *śakti* we could say that *śakti* is this whole objective universe-which includes not only the objects of perception *(prameya)* and the means of perception *(pramāṇa),* but also the limited subjects or perceivers *(pramātṛi)* attached to those objects-and that Śiva is that reality from which this universe issues forth. And yet it is said that Śiva and Śakti are not aware that they are separate. Why? Because in reality they are not separate at all. They are one just as a fire is one with its heat[6].

Although Kashmir Śaivism and Advaita Vedānta both teach non-

---

4. Swami Lakshmanjoo, "Fifteen Verses of Wisdom," in John Hughes, *Self Realization in Kashmir Shaivism, the Oral Teachings of Swami Lakshmanjoo* (Albany, N.Y.: State University of New York Press, 1994), 21.
5. Swami Lakshman Joo, "Fifteen Verses of Wisdom," 22.
6. Swami Lakshmanjoo, "Fifteen Verses of Wisdom," 22.

dualism, the non-dualism of Kashmir Śaivism is quite different from that of Advaita Vedānta. Essential to this difference is Advaita Vedānta's proposition that this universe is untrue and unreal, that it is a false projection of *māyā*. This theory is completely opposed to the Kashmir Śaiva theory of reality. To counter this proposition Kashmir Śaivism argues that if Śiva is real, how could an unreal substance emerge from something that is real? If Śiva, the ultimate essence of existence, is real his creation must also be real. For the Kashmir Śaiva this universe is just as real as its creator.

The non-dualism expounded by Kashmir Śaivism creates a dilemma for its adherents. If this universe is as real as its creator, how does the latter create this diverse universe as one with himself? To explain this seeming incompatibility, Kashmir Śaivism proposes the theory of reflection *(pratibimbavāda)*. This theory explains that the universe is created in the same way as the image of an object, such as a house can be reflected in a mirror. In the case of Śiva, however, there is no object such as the house which exists independently from the mirror of God Consciousness, because if there were, it would mean that there is an object which exists outside of God Consciousness. The Kashmir Śaiva theory proclaims that nothing can exist outside of God Consciousness, because only God Consciousness exists. Therefore, the Śaiva explains, the only thing that exists is the house appearing in the mirror. There is no external object, no separate house, being reflected in the mirror. There is only the mirror of God Consciousness. What then causes the "reflection" to appear in the "mirror" of Śiva's awareness? To this question of Śaiva answers, it is *svātantrya,* the absolutely independent will of God. It is Lord Śiva that creates this whole universe in the mirror of his awareness by his absolutely independent will *(svātantrya),* his freedom.

In summarizing the essence of the non-dual cosmology of Kashmir Śaivism, Lord Śiva creates the objective world through the expansion of his *śakti,* which is absolutely one with him. The universe is manifest in his own nature, like a reflection in a mirror, by his own absolutely independent will.

Concealing and Revealing His Nature

But why has Lord Śiva created this external objective world, this manifestation of supreme energy, in his own nature? The answer to this question that begins to shed light on *mokṣa* and the means of its attainment in the teaching of Kashmir Śaivism. Trika Śaivism teaches that Śiva has manifested this external world for only one reason-to create the possibility of recognizing his own nature. And furthermore, the Kashmir Śaiva understands that this objective universe, a manifestation of Lord Śiva's *svātantrya śakti,* is a means, a tool, to be used to realize the universal reality of Śiva.

As Abhinavagupta tells it, when Lord Śiva is completely alone, bereft of his creation, he exists in the full splendor of his God Consciousness. He does not need to recognize his own nature, because it is already there. But he wants his own nature to be recognized. This recognition gives him great joy. But because it is already there, there is nothing to recognize. So, in order to recognize his nature, Śiva must become ignorant of his nature. He must seemingly separate himself from his nature. It is only then that he can experience of joy of recognizing it.[7]

This, Kashmir Śaivas say, is the play of the universe. Because of Lord Śiva's freedom, his *svātantrya,* this universe is created solely for the fun and joy of this realization. It is Śiva's play to seemingly leave his own nature so that he can find it and enjoy it again. This is the dance of Śiva, the joyous game in which he is continuously creating this universe-to lose himself and then find himself.

In order to seemingly depart from his own nature, to lose himself in his creation, he must withdraw his God Consciousness. And in order to find himself he must again expand his God Consciousness. This process is known as *nimeṣa* (closing) and *unmeṣa* (opening). It is the supreme energy of God which gives rise to *nimeṣa* and *unmeṣa*. *Nimeṣa* is the withdrawal of his God Consciousness, and *unmeṣa* is the expansion of his God Consciousness. Both of these states are contained within Śiva simultaneously.

7. Swami Lakshmanjoo, ``Fifteen Verses of Wisdom," 23, 24.

By withdrawing his God Consciousness, Śiva conceals himself in his creation. Only Śiva has this power, the power of his own *svātantrya,* to totally disregard and hide his own nature and then to find it again. But what is it that he finds when he rediscovers his own nature? He finds, upon realizing his own nature, that it was already there. For the Kashmir Śaiva, this is the real essence of this teaching. Lord Śiva loses his nature only to find it again-and when he does he realizes that it was already there.

He wants, in the external universe that he has created, to completely disconnect his God Consciousness and then to realize that it was never disconnected. For although it is disconnected, in the real sense it is not disconnected at all. In finding it he realizes that it was never lost. He experiences that there was never really any separation from his God Consciousness. Separation only seemed to exist. For Śaivism this is the greatest mystery of existence and Lord Śiva's supreme act.[8]

Bondage through Ignorance

Another point will shed additional light on our topic. In creating this world Śiva conceals his real nature. How does he do this? The Śaiva says that he conceals it with particularity. His *māyā,* his magic, brought about by his power of absolute freedom *(svatantrya śakti),* is to hide himself in the particularity of the world. As a particular individual, Śiva loses the real undifferentiated knowledge of his real Self and possesses only differentiated knowledge of particularity. Through this *māyā* or *ajñāna* (ignorance) he veils himself. This is stated very succinctly in the first two verses of the *Śiva Sūtras:* "Awareness is the reality of everything. Having differentiated knowledge and not having undifferentiated knowledge is bondage."[9]

Ignorance, for Kashmir Śaivism, is not the absence of knowledge, rather it is said to be non-fullness of knowledge. Jai Deva Singh in his

---

8. Swami Lakshmanjoo, ``Fifteen Verses of Wisdom," 26.

9. caitanyamātmā/jñānam bandhaḥ
"Swami Lakshmanjoo, translation and commentary on Śiva Sūtras I, June 7, 1975, tape recording in possession of the author."

translation of the *Śiva-Sūtras* calls it "shrunken knowledge."[10] The Kashmir Śaiva tells us that knowledge is always present in our conscious lives but it is limited knowledge. Real knowledge, which is unlimited, is Self-knowledge. It is undifferentiated *(nirvikalpa)* and identical with Consciousness. The Kashmir Śaiva argues that every limited being must have some knowledge because none could exist without knowledge. Knowledge, being identical with consciousness, is the essence of reality.

Means *(Upāya)*

Kashmir Śaivism has revealed three means to enter from individual limited consciousness to universal God Consciousness. The first and highest means is called *śāmbavopāya.* The second, for aspirants of medium qualifications, is called *śāktopāya.* The third means, called *āṇavopāya,* is regarded as inferior. The method of traveling from limited consciousness to universal Consciousness depends on the ability of the aspirant.

Abhinavagupta tells us in the *Tantrāloka* that the aspirant should always try for the highest and best thing first. Failing that he should try for the next best, and so on. Thus, in his *Tantrāloka,* he has defined and elaborated the highest *upāya, Śāmbavopāya,* first. His descriptions of *śāktopāya* and *āṇavopāya* follow.

Abhinavagupta, drawing from the *Mālinīvijaya Tantra,* defines *śāmbavopāya* as that *upāya* wherein the aspirant achieves entry *(samāveṣa)* into Supreme Consciousness just by the grace of his master, without adopting any process. He does not use thought *(dhyāna),* mantra, or any other aid to meditation. *Śāktopāya* is defined as that *upāya* where the aspirant achieves mystical entry *(samāveṣa)* through contemplation of that mental object which cannot be spoken or recited. *Āṇavopāya* is defined as that *upāya* where mystical entry takes place through concentration on parts of the body *(sthāna-prakalpanā),* contemplation *(dhyāna),* recitation *(varṇa),* taking the support of the breath *(uccāra),* and

10. Jaideva Singh, trans., *Śiva Sūtras, The Yoga of Supreme Identity* (Delhi: Motilal Banarsidass, 1979), 16.

mantras.[11]

In Kashmir Śaivism, though the means may be many, the goal is only one: mystical absorption *(samāveśa)* in the *śāmbhava* state, the reality found in *śāmbavopāya*. What is the *śāmbhava* state? The *śāmabhava* state is where the *yogi* becomes instantly established in Supreme Consciousness. For the Kashmir Śaiva, all absorption in the reality of God Consciousness is, in the end, the absorption of the *śāmbhava* state, because in *śāmbavopāya,* unlike *Śāktopāya* and *Āṇavopāya,* the *yogi* has no where to go. Instead he/she only has to be in his/her own nature. This is real mystical absorption.

What determines which *upāya* the aspirant is qualified for? The secret is the strength of awareness of the perceiver. As Lakṣmanjoo explains, strength of awareness means to possess such power of subjective consciousness that the practitioner's one-pointed subjective awareness is not overshadowed, either by objective experience or thoughts. In the experience of the limited subject, the act of perception or thinking typically overshadows the subject, the perceiver, so that one is aware only of thinking or perceiving. Thus human beings live their lives completely in the objective or cognitive worlds. Although we might say, "I am seeing a butterfly," in actual fact the "I" is eclipsed by the act of seeing and what remains is "seeing a butterfly." In other words the subject is lost in the act of perception. Because "I" consciousness is the basis for all thought or perception, it must be present for any perception or thought to take place. Yet it is eclipsed in such a way that in the act of thinking or perceiving it is not a part of conscious awareness. As we saw above in our discussion of the first two verses of the *Śiva Sūtras,* this is the nature of ignorance-being overshadowed by the world of diversity and not knowing one's real universal nature. Developing strength of awareness means gaining the ability to think thoughts and experience perceptions without losing self-awareness.

to be continued

11. Swami Lakshmanjoo, translation and commentary on *Tantrāloka* 1: 167 & 169, October 1975, tape recording in possession of the author.

SELF-ENQUIRY IS GAYATRI*

—Jankinath Kaul 'Kamal'

Attention and not concentration
Is the first requisite of
Self-enquiry — Who am I.
Concentration is a forced process:
It is a function of will,
An off - sheet of discipline -
Doing by coaxing,
Cajoling, forcing ourselves.
Attention is natural;
It happens,
It is spontaneous grace,
For it springs from interest.
In concentration
Object of attention is boring-
Not exciting enough
To sustain that attention.
Parents never exhort children
To concentrate
On reading comics,
On seeing movies,
On witnessing T.V. Programme,
On attending sports of their choice/interest.
Concentration is invoked
Where sports become profession.
If self-enquiry is interesting
It is like an adventure trip.
It is like a day of holiday.
One is attentive during practice-

---

* SHE who protects HER devoted singer is GAYATRI-
गायन्तं त्रायसे यस्मात् गायत्रीत्वं ततः स्मृता।

Day, night and dreaming state
Walking, talking, weeping and laughing.
If self-enquiry is a job
One may have to force attention.
It is interest that grabs attention.
Concentration helps hold on
Until it is shifted to natural interest.
So one has to wait
Till self-enquiry is interesting
To ensure spontaneity of attention-
An all-consuming hobby
And not duty.
Duty is not all what we enjoy doing,
Action of duty does not spring from love.
Ask yourself first
Whether self-enquiry is a duty-
Something that must be done.
No-, Self-enquiry is play,
Fun, an adventure,
Something we love and enjoy.
Look at a child in sport-
Voluntarily playing, involuntarily absorbed.
Nothing can distract it.
He must play at any cost.
Self-enquiry is not merely a teacher's instruction.
It is not a doctor's prescription-
One pill after breakfast,
One pill before bed.
There is spirit of wonder in self-enquiry.
It is will to keep in adversity.
It is like the battle of *Mahābhārata*-
Fighting with avid interest,
Fighting with excitement;

Not the sense of drudgery.
Ramana once said -
`Work and wisdom go together!'
Every moment of intense attention
Assures immediate reward,
Natural bliss that enhances interest.
It is not just keeping to prescribed time,
But diving in, all of a sudden,
At different times of the day,
Especially in joy and sorrow,
Passing the intensity to enquiry -
`Who am I, Why, Whence do I come, -
Keeps the spirit of fun alive.
A surprising situation, indeed.
It is positive remembrance
That naturally draws one
To the experience again.
Getting up from the struggle
May not mean to resume it.
Merely exult in the way God reveals.
Make self-enquiry light and joyous
By recognising clearly
That the very process and fruition
Are made possible enough
By the grace of Sadguru.
For it is intuition, not intellect,
That reveals the marvellous journey
Just as a holiday that one can enjoy.
Self-enquiry is, indeed, partying all-the-way.
It is *Gayatri,* the song of self
that everyone sings whenever one loves.

Sri Rudram in Saivāgamas

—Daleep Thusu

From the vedic times the word Rudra is commonly found. It has got four root meanings : (a) Dreadful, terrific angry; (b) great or large; (c) driving away evil; (d) fit to be praised. We shall find all the four concepts entering into the composition of that God. Rudra is mentioned in five hymns, fully in three of them, and along with Soma in another. Rudra is one of the naturo-mythical gods of the Rigveda, but has only a minor place in it. Scholars think that probably Rudra represented the sudden and destructive forces of the storm with thunder and lightning which struck at men and cattle, but with a healing touch in the end. Indian mythology personifying the forces of nature started from sources of wonder and awe at its mysterious operations as in the cases of the Greek, Norse & other mythologies of the earliest races of mankind. There was the same attempt to personify them in lovely or terrible forms and there can be no doubt that Rudra is one of them.

Most men pass through life unthinking like sheep going to a slaughter-house. Maya casts a veil of ignorance over man. Now man's Chief and only obsession should be with death. The fear of death is the beginning of wisdom. If man's spiritual eye should be touched and his vision cleared, he would see the dance of death and destruction all around. The seer of the Rudram is one such sensitive soul on whom the relatives of life and death make a profound impression.

The first Anuvāka consisting of 15 Riks may be styled as the "Anuvaka of terror and the beseeching for the destruction of sins which hinder the descent of God's grace for illumination". Struck by the awful sight of the death and destruction in anger, the votary realizes that Rudra is just angry on account of his own sins and he bows abjectly before the avenging figrue. (Rik 1) Rudra and his weapons immediately get pacified. The votary prays to Rudra to protect him by those very weapons to protect — to render him happy', a word we meet with often in the Rudram signifying happiness in this and the next world. (Rik 2) The third Rik is the counterpart of the holy Gayatri and may be called as the "Rudra-Gayatri". God has got two forms — the Ghora one which is Roudram —

frightening so long as man is in a state of Ajnana or ignorance, when the universe is a puzzle to him, when he knows not himself, the world, or God. The other one is as described in the Mandukya Upanishad —". The fourth transcendent state which is Shivam — auspicious and peaceful."

"That form of thine Rudra ! Which is auspicious and hurteth not, by that auspicious form irradiate and illumine me" — this is the Rudra Gayatri.

The basic of all prayers in the world is an appeal to God to illumine the dark and stumbling ways of man in life and to light his steps and lead him.

God is "Shiva"— auspicious, and if he is invoked by "Sivena Vachasa" auspicious speech, he will respond and solve the riddle of the world ! He will make his votary behold the world with the 3rd spiritual eye on the fore-head like himself. Man will then see the universe free from evil and sins and "Sumanasat" friendly and loving towards him.

In Rik 6 the votary prays that Rudra may intercede with the other Gods on his behalf and destroy his enemies external and internal.

As a result of the morning prayer of the votary, he is vouchsafed a cosmic vision of Rudra. The one principal of intelligence has changed itself and appears as the universe animate and inanimate.

Anuvaka '2' consists of 13 yajus and starts with the invocation" Salutations unto Rudra of the golden arms, unto the Lord of quarters salutations. The tempo is maintained with breathless verse to the end of Anuvaka 9. The parallels to this divine out burst are found in canto eleven of the Gita—Visvarupa Darsana by Arjuna. Since Rudra is Senani the commander of the hosts of heaven, we find his warrior aspects stressed in all the yajus portions.

After introducing Rudra as a warrior it presents him as the prince of thieves and cheats. Hindu religion does not shun or gloss over the problem of evil, the existence of the mean, the cruel or repulsive aspects of life. Rutra is the Lord not only of the pleasant & praise worthy things, the sun and the moon and the stars, the green trees and grassy earth, but of the

shocking and the terrible. He is the Lord of various kinds of thieves including those who are blood thirsty and kill without mercy. You can not say that Rudra created the fair and the pleasing alone. Evil, misery, the things that shock and revolt, the problem of evil which can not be devised is as much a part of the universe which god has created. Rudra exists in twofold form among these and other undesirables. The primary meaning of the words thief etc. is the Jiva form. That sinful Jiva form is what is condemned in the Shastras. But the words have a meaning (लक्ष्यार्थ) indicating some thing over and above the literal meaning.

The लक्ष्यार्थ here is Isvara, the divine form. Man gains the highest Purshartha, by a contemplation of God in this higher aspect. That is why with this ultimate लक्ष्यार्थ in mind, the Rudram uses ordinary Laukika or wordly words like thief, cheat and assassin.

to be continued

विज्ञानभैरव – समीक्षात्मक अध्ययन

(पहला भाग)

मूलप्रवचनकार - शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

आगम ग्रन्थ विज्ञानभैरव श्री रुद्रयामल तन्त्र का एक अध्याय है। इसी तन्त्र का अन्यतम अध्याय परात्रिंशिका शास्त्र है। विज्ञानभैरव भैरवदृष्टिकोणात्मक है। इसकी गणना न रुद्रशास्त्र में नाही शिवशास्त्र में की जाती है। यह भैरवशास्त्र है, जो संपूर्ण रूप से अद्वैत-मतानुयायी है। इस आगमग्रन्थ में ११२ यौगिक धारणाओं का वर्णन किया गया है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य विषय अनुपाय योग है जिसके द्वारा विज्ञान-भैरवरूपी परमतत्त्व तक साधक को पहुंचा देना ही इसका प्रयोजन है।

"श्री देवी उवाच" - श्रीदेवी पार्वती के कथन से ही इस ग्रन्थ का आरम्भ होता है। उनका कहना है कि–

श्रुतं देव ! मया सर्वं रुद्रयामल संभवम्।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः॥ १॥
अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर !॥

अन्वयः– हे देव ! मया रुद्रयामल संभवं सर्वं त्रिकभेदं अशेषेण सारात्सारविभागशः श्रुतम्। हे परमेश्वर ! न अद्यापि मे संशयः निवृत्तः।

हे प्रभु ! मैंने पहले ही त्रिकमत (कश्मीर शैवदर्शन) के सार को संपूर्णरूप से सुना जो अपने सभी उपखण्डों (Sub-divisions) के समेत, रुद्रयामल तन्त्र से प्रादुर्भूत (प्रकट) हुआ है, पर हे देवाधिदेव ! फिर भी अभी तक मेरे संशय शान्त नहीं हुए हैं।

देव–हे प्रभु, मया–मैंने, श्रुतं–सुना, त्रिकभेदं–त्रिकमत (कश्मीर शैवदर्शन) का सार, अशेषेण–संपूर्ण रूप से, रुद्रयामलसंभवम्–जो रुद्रयामल तन्त्र से प्रकट हुआ है, अथवा जो भैरव-भैरवी के संघट्ट (union) से उत्पन्न हुआ है। (दोनों रूपों में इसका अनुवाद किया जा सकता है) अर्थात् जो रुद्रयामल–भगवान् शिव और पार्वती–दो शक्तियों के मेल से प्रकट हुआ है या जो रुद्रयामल तन्त्र से प्रकट हुआ है।

सारात्सारविभागशः–त्रिकदर्शन की विचारधारा की यथार्थता (reality) को सिद्ध करने से, अद्यापि–अभी भी, (यद्यपि आप से), श्रुतं मया सर्वं–मैंने सब कुछ पहिले ही सुना है, न निवृत्तो–शान्त नहीं हुआ है, मे संशयः–मेरा सन्देह (doubts)

किं रूपं तत्त्वतो देव शब्दराशिकलामयम्॥ २॥
किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ।
त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम्॥ ३॥

नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्ध निरोधिकाः
चक्रारूढं अनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम्॥ ४॥

अन्वय–देव ! भैरवे भैरवाकृतौ तत्त्वतः किं रूपं? किं शब्दराशिकलामयं (तत्त्वं)? किं वा नवात्मभेदेन? त्रिशिरो भेद भिन्नं वा? किं वा शक्ति त्रयात्मकम्? नाद-बिन्दुमयं वा अपि, किं चन्द्रार्धनिरोधिकाः? चक्रारूढं अनच्कं वा? किं वा शक्तिस्वरूपकम्?

हे देव ! भैरवागम में, भैरवस्वरूप में प्रवेश पाने के लिए अथवा भैरव की सत्य स्वरूपावस्था में घुसने के लिए, वास्तव में, उस अनुत्तर तत्त्व का स्वरूप क्या है? वर्ण समुदाय की शक्तियां जिसमें हो क्या वही उसका यथार्थ रूप है? भैरवतन्त्रों के अनुसार नव प्रकार के मन्त्र विभाग में अर्थात् नवात्म मन्त्र राज में क्या यह (अनुत्तर तत्त्व) भैरवरूप

में अधिष्ठित (established) है? तीन सिरों से, ऐश्वर्य में, यह अनुत्तर तत्त्व अलग अलग रूप से कैसे भिन्न माना जाता है? तीन शक्तियों को अपने में इस अनुत्तर तत्त्व ने कैसे समेटा है? नाद और बिन्दु में यह (अनुत्तर तत्त्व) कैसे अवस्थित है? शक्ति के उच्चतर केन्द्र और अर्धचन्द्र निरोधिका को इसने (अनुत्तर तत्त्व ने) कैसे समेटा हैं? क्या वर्ण चक्र गति के अन्तर्गत, स्वर रहित मन्त्र में इसका अवस्थान है? क्या यह सुस्पष्ट शक्ति के रूप में विद्यमान है?

किं रूपं तत्त्वतो देव !? यह पंक्ति एक पूर्ण वाक्य है।

तात्पर्य यह कि हे प्रियतम! (पार्वती ईशान से पूछती है) जिस मार्ग पर हमें चलना है वास्तव में वह कौन सा सारभूत मार्ग है?

'तत्त्वतो' - का अर्थ है वास्तव में।

किं शब्दराशिकलामयं तत्त्वं?–क्या शब्दराशिकला (वर्णसमूहशक्तियां) ही सारभूत मार्ग है? अर्थात् अवरोह क्रम में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक, और आरोह क्रम में 'क्ष' से लेकर 'अ' तक की शब्द राशिकलाओं का अधिगमन करना अर्थात् स्वाभाविक विकास–संकोच या संकोच विकासशील स्वरूप–विस्तार लीला ही क्या अनुत्तर तत्त्व को पाने का सारभूत मार्ग है?

किं वा नवात्मभेदेन? अथवा क्या नवात्मभेद से उस तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् पहिली अवस्था से दूसरी अवस्था को पाना, दूसरी से तीसरी इत्यादि नौ अवस्थाओं को क्रमशः पार करना और फिर "अ"–अनुत्तर की ओर वापिस मुड़ना क्या यही सारभूत मार्ग है? ये नौ अवस्थायें कौन हैं? इन पर प्रकाश डालते हुए स्वामी जी महाराज कहते हैं कि–

पहली अवस्था प्रकृति तत्त्व की है। यह प्रकृति तत्त्व ही इस भौतिक जगत (Material world) का वास्तविक उद्गम (Source) है। दूसरी अवस्था पुरुष तत्त्व की है जो व्यक्तिगत आत्मा के रूप में इस भौतिक जगत में विचरण करती है। पुरुष के कञ्चुकभूत (Coverings) पांच आवरण ही तीसरी अवस्था है। पांच आवरण हैं–कला, विद्या, राग, काल और नियति। माया तत्त्व को चौथी अवस्था के रूप में माना जाता है। माया क्या है? माया निर्बाध (Free) क्रिया स्वातन्त्र्य की साकाररूप इच्छा है (Personified will) प्रकृति और माया में अन्तर है। प्रकृति तो भौतिक जगत की जननी है जबकि माया देवाधिदेव या परपुरुष की साकाररूप इच्छा है। यही तो इन दो में अन्तर है अन्यथा प्रकृति और माया का कार्य एक जैसा है। **प्रकृति, पुरुष कञ्चुक** (पांच आवरण) **और माया ये चार तत्त्व हैं।** इन चार तत्त्वों के

अतिक्रमण करने पर पुनः हमें **"शुद्ध विद्या"** नामक **पंचम तत्त्व** की ओर जाना पड़ता है, जो ज्ञान की विमल दशा है। ज्ञान और क्रिया की शुद्ध अवस्था को **ईश्वर तत्त्व** कहते हैं। यह **छठा तत्त्व** है। ज्ञान और क्रिया में प्रतिष्ठित रहने (Establishment) को ही **सातवां सदाशिव तत्त्व** कहते हैं। **विश्वात्मिका शक्ति** (Universal energy) शक्ति तत्त्व नाम की **आठवीं अवस्था** है और इस विश्वात्मिका संवित् को अपने में समेटे हुए **शिव** को ही **नवम** (Ninth) **तत्त्व** कहते हैं। नवात्मभेद से इन्हीं नौ तत्त्वों या अवस्थाओं की ओर संकेत है। मन्त्रात्मक दृष्टिकोण के आधार पर नवात्मभेद से 'ह् र् क्ष् म् ल् व् य् नु म्' इन नौ वर्णों की गणना क्रमशः की जाती है। स्मरण रहे कि मृत्युशय्या पर पड़े हुए शैवी साधक के समक्ष पढ़ी जाने वाली 'ब्राह्मीविद्या' के आरम्भ में और अन्त पर भी उपरोक्त 'ह् र् क्ष् म् ल् व् य् नु म्' नवात्म मन्त्र उसके कवच के रूप में पढ़ा जाता है। पर, स्वामी जी महाराज की आज्ञा है, कि इस नवात्ममन्त्र को ब्राह्मी विद्या के साथ जोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि नवात्ममंत्र अपनी जगह पर अलग है और ब्राह्मीविद्या का भी अपना एक अलग स्थान है।

(दूसरी बात यह है कि) नवात्मभेद में हमें नौ अवस्थाओं को लांघना पड़ता है हमें मन्त्रों के क्षेत्र में चलना पड़ता है अर्थात् तत्त्वों के क्षेत्र में हमें प्रकृति से शिव तक और शिव से पुनः प्रकृति तक उनके ऐश्वर्य से परिपूर्ण होके, प्रतिष्ठित होना पड़ता है। इसमें एक बात है कि जब हम प्रकृति से शिव की ओर जाते हैं तो उस समय हम गौरवान्वित नहीं होते हैं परन्तु जब हम शिव तत्त्व से प्रकृति तत्त्व की ओर आते हैं तो हम पुष्प मालाओं से सुसज्जित जैसे, शैवी विचार से ओतप्रोत सारी शान और अवर्णनीय भाव को अपने साथ लाते हैं। पर इस स्थिति को "सौः" बीज की अनुग्रह शक्ति कहना संगत नहीं। क्योंकि स्वामीजी महाराज की मान्यता है कि केवल प्रकृति तत्त्व से लेकर शिवतत्त्व तक की अवस्था प्राप्त करने की यात्रा को "सौः" बीज की अनुग्रह परायणता नहीं माना जा सकता अपितु शिवतत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक की ओर उतरते हुए शिव की महत्ता, शैवी विचार आदि को साथ लिये रखना ही तो "सौः" बीज की अनुग्रह शक्ति है।

क्या इसी नवात्मभेद से उस अनुत्तर तत्त्व की प्राप्ति होती है ?

भैरवे—भैरव शब्द से यहां भैरवागम अभिप्रेत है। भैरवाकृतौ=भैरवदशा में प्रवेश पाना, अथवा भैरव के स्वतन्त्र स्वभाव में प्रवेश पाना इस शब्द का तात्पर्य है।

अथवा

त्रिशिरोभेद भिन्नं वा?
किं वा शक्तित्रयात्मकम्?

त्रिशिरोभेद भिन्नं वा—अथवा त्रिशिरो भैरवागम में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि, शक्ति त्रयात्मकं—हमें तीन शक्तियों का अतिक्रमण करना चाहिए अर्थात् शिव की 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' नामक तीन शक्तियों की स्थितियों का अवरोह और आरोह क्रमानुसार हमें अवगाहन करना चाहिए। शैवदर्शन में इन उपरोक्त तीन शक्तियों का स्वाभाविक संकोच प्रसरक्रम ही स्वरूपविस्तारलीला की वास्तविकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पराशक्ति से परापराशक्ति की ओर परापराशक्ति से अपराशक्ति की ओर, फिर अपरा शक्ति से परा पराशक्ति की ओर, परापराशक्ति से परा की ओर मुड़ना चाहिए। यही वास्तविक स्वरूप विस्तार लीला है। त्रिशिरोभैरव वह भैरवागम है जिसमें परा, परापरा और अपरा शक्तियों की स्वरूप विस्तार लीला को स्वाभाविक संकोच विकास क्रम से समझाया गया है। क्या इस प्रकार की प्रक्रिया को अपनाने से अनुत्तर—तत्त्व को समझा जा सकता है?

नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्ध निरोधिका—?

अथवा नाद से बिन्दु तक, बिन्दु से अर्धचन्द्र, अर्धचन्द्र से निरोधिका तक, निरोधिका से नादान्त तक, नादान्त से शक्ति और शक्ति से व्यापिनी और फिर व्यापिनी से समना तक संक्रमण करने की सहायता से क्या उस अनुत्तर तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है?

नाद—नाद से ही सर्वप्रथम (प्रणव की बारह कलाओं का श्रीगणेश होता है) आगे चलने की प्रक्रिया का आरम्भ होता है। नाद 'अ' 'उ' और 'म' है। "अकारश्च उकारश्च मकारः" नाद ईरितः। अर्थात् अ, उ और म को नाद कहते हैं।

बिन्दु—ऊँकार (प्रणव) मन्त्र के जप करने के समय श्वासोच्छ्वास की गति में एकाग्रनिष्ठता के आने को ही बिन्दु कहते हैं।

अर्धचन्द्र—प्रणव मन्त्र की इस कला में सांस का चलना रुक जाता है।

निरोधिका—अर्धचन्द्र स्थिति में कभी कभार यह भय रहता है कि प्राण और अपान पुनः गतिशील न हो पर स्तब्धावस्था में प्राणवायु के प्रतिष्ठित होने को ही निरोधिका कला कहते है। इस अवस्था में प्राण और अपान का संचार पूर्णरूप से स्तब्ध होता है।

नादान्त—नादान्त स्थिति का तात्पर्य यह है कि निरोधिका कला के पश्चात् उस नाद में प्रवेश पाना जो नादहीन है अर्थात् नाद का नादहीन अवस्था में प्रतिष्ठित होना ही नादान्त है।

शक्ति—परमैक्यावस्था में (Supreme state of oneness) 'अहं' का अधिष्ठित होना ही शक्ति है। शक्ति के पश्चात् व्यापिनी और समना का ग्रहण किया जाता है।

(व्यापिनी और समना पर स्वामी जी महाराज ने प्रकाश नहीं डाला है)[1]

क्या इस उपरोक्त नाद आदि विधि से अनुत्तर तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है?

चक्रारूढं अनच्कं वा? किं वा शक्तिस्वरूपकम्?

अनच्कं–गतिहीनता (without movement)

चक्रारूढं–गतिशीलता के चक्र में (In the wheel of movement) माता पार्वती पुनः पूछती है–

अथवा क्या हमें अनुत्तर तत्त्व प्राप्ति के लिए विश्वात्मिका शक्ति के उस क्षेत्र में कदम रखना है जिसकी गति के वेग में वह तीव्रता (velocity) होती है कि निश्चलता (immobility) छा जाती है? (इसी अवस्था को 'अनच्कं' कहते हैं।)

किं वा शक्तिस्वरूपकम्? क्या उसी शक्ति के स्वरूप में अवस्थित होने से अनुत्तर तत्त्व की प्राप्ति संभव है?

अनच्कं चक्रारूढं को स्वामीजी महाराज ने इस प्रकार समझाया है कि "अनच्कं" का तात्पर्य शब्दहीन है। "चक्रारूढं" के साथ "अनच्कं" का तात्पर्य है कि वह शब्द जो नाद हीन है। "अनच्कं" अर्थात् जिसे बोला नहीं जाता। हम इसे बोल नहीं सकते हैं। "अनच्कं" का अर्थ है जहां 'अच्' अर्थात् 'स्वर' नहीं है–स्वर के बिना। शब्दों में जिसे हम बोल नहीं पाते हैं यही "अनच्कं" से अभिप्रेत है।

यदि हम इस पर विचार करें कि यह कौन सी अवस्था है जहां हम तीव्रतर गति में गमन करके गतिहीन हो जाते हैं तो इसका समाधान यह है कि इस अवस्था को प्राप्त करना इस बात पर निर्भर है कि गति का वेग कैसा है। वेग का चरम बिन्दु पर पहुंचना ही गतिहीनता का सूचक है जो कञ्चुकों (Six coverings) से परे हैं।

क्रमशः

---

१. शास्त्रों के आधार पर व्यापिनी और समना का रूप इस प्रकार है व्यापिनी–परमैक्यावस्था (Supreme state of oneness) का आनन्दमयस्पर्श जब देहकला में व्याप्त न रहकर आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हो जाता है तो व्यापिनी कहलाता है।

समना–सारे भाव और अभावमय वेद्य जगत (Objective field) के लय होने पर चिन्तन के साथ बोध (विज्ञान) मात्र के बच रहने पर समना की स्थिति आती है।

साम्बपञ्चाशिका–एक विवेचन

प्रो० नीलकंठ गुरुटू
परामर्श–श्री कन्हैयालाल स्वरूप

साम्बपञ्चाशिका भगवान वासुदेव के अनुग्रहपात्र आत्मज साम्बजी के द्वारा विरचित अतीव अनुभूतिपरक एवं हृदयस्पर्शी स्तोत्ररचना है। इसमें उन्होंने, भगवान के ही आदेश का पालन करते हुए, आत्मिक उद्धार की कामना से, पच्चास मधुर पद्यों में भगवान सूर्यदेव (चित्–सूर्यदेव=स्वात्म महेश्वरदेव) की उपासना की है। भगवान चित्–सूर्यदेव विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों में व्यापक परब्रह्मसत्ता की केवल अनुग्रहैक मूर्ति है। उन्होंने यह उपासना भी स्वयं दयानिधान आनन्दकन्द भगवान के ही आदेशानुसार परमपावन एवं पापहारिणी मथुरा नगरी में जाकर उस समय के ख्याति प्राप्त 'षट्–सूर्य' नाम वाले तीर्थस्थान पर जाकर की है। प्राप्त पौराणिक सूचना के अनुसार तत्कालीन महान यदुवंश में मात्र साम्बजी ही ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिनपर पर्यन्ततः यथार्थ पारमेश्वर शक्तिपात की अमृतवर्षा हुई है। उस अत्यन्त स्पृहणीय अवस्था को प्राप्त करने से पहले अपने तन–मन में व्याप्त सारी कलुषित वृत्तियों का निःसंस्कार शमन करने के लिए उनको एक प्रकार से अपने पापों का प्रायश्चित करना पड़ा है। प्रस्तुत साम्बपञ्चाशिका उनके उस प्रायश्चित्त की ही वैखरीमयी अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि इस स्तुतिरचना में भगवान् चित्–देव (चित्–सूर्यदेव) की पराभक्ति, श्रद्धा और उच्चकोटिक योगक्रम इन तीनों के नीरक्षीरात्मक समन्वय की पावन त्रिवेणी के दर्शन होते हैं।

शैवमान्यता के अनुसार परमेश्वर की निजी शक्तिरूपिणी महामाया भगवती इतनी प्रबल है कि वह ३६वें शिवतत्त्व पर भी अपना प्रभाव जमाये बैठी है। ऐसी परिस्थिति में यदि साम्बजी के जीवन का पूर्वभाग भी उसके विषम प्रभाव से अछूता न रह सका हो तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं मानी जा सकती। साम्बजी ने स्वयं भी अपनी इस यौवनसुलभ चञ्चलता का सङ्केत अपने एक पद्य में स्पष्ट रूप में दिया है और उन्होंने अपनी उस अवस्था को विषयोपभोग की चञ्चलता के दलदल में धंसी हुई बचकानी अवस्था का नाम दिया है।

तात्कालीन सभ्य जनसमाज ही नहीं प्रत्युत नारदादि भक्तवरों और अन्य देवशक्तियों से भी उनकी वह पतनोन्मुखी आत्मिक अवस्था देखी न जा सकी। उन सबों की समवेत प्रेरणा से प्रेरित होकर मुनिवर नारद ने भगवान के सामने उनके मानसपटल पर छाई हुई मोहमयी अख्याति के कुत्सित रूप को हठात् अनावृत कर डाला। शान्त पारमेश्वर स्वभाव में प्रबल क्षोभ उत्पन्न हुआ और भयङ्कर अभिशाप की वाणी सहसा मुखरित हो उठी।

निमिषमात्र में साम्बजी का, अप्सराओं को भी लुभाने के प्रति सशक्त, सौन्दर्य से परिपूर्ण शरीर, ऊपर से नीचे तक, रक्तस्रावी कुष्ठ रोग से और घृणित पूतिगन्ध से विकृत मांस का लोथड़ा जैसा बन गया। भगवान के ही आदेशानुसार मात्र चित्-सूर्यदेव की असाधारण आराधना उनके शापमोचन और आत्मिक-उद्धार के उपाय के रूप में निश्चित की गई पर आश्चर्य की बात है कि उन्होंने आत्मिक अधोगति का मूलकारण बनी हुई अपनी यौवनसुलभ मानसिक चञ्चलता को छिपाने का प्रयत्न भी नहीं किया है, प्रत्युत स्पष्ट शब्दों में उसका उल्लेख करके अपने आराध्यदेव से क्षमायाचना की है—

'सत्यासत्यस्खलितवचसां शौचलज्जोज्झिताना-
मज्ञानानामफलसफल प्रार्थनाकातराणाम्।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्त कौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम्॥' *(सां० पं० पद्य ३९)*

उसी आराधना के शाब्दिक रूप का नाम साम्बपञ्चाशिका है।

सारी रचना में कुल पद्यों की संख्या ५३ है। इनमें से ५० पद्यों में चित्-सूर्यदेव की उपासना की गई है और अन्तिम ३ पद्यों में रचनाकार ने संक्षेप में अपनी रचना का प्रयोजन और थोड़ा सा आत्मपरिचय प्रस्तुत किया है।

साम्बजी का चित्-सूर्यदेव वास्तव में सर्वातिशायिनी एवं सर्वव्यापक परब्रह्मसत्ता है। वह सत्ता प्रत्येक प्राणी की पाञ्चभौतिक काया के अन्दर मध्यनाड़ी में 'ओं' इस प्रकार के अविच्छिन्न एवं स्वयं उच्चरित रूप में प्रतिसमय 'शब्दायमान'-अर्थात् स्पन्दायमान रहती है। उस स्वयंसिद्ध स्पन्दना की बमहिर्मुखीन अनुगूँज ही परावाणी से लेकर वैखरीवाणी तक का शब्दब्रह्मगर्भित वाणीप्रपञ्च है। वही ब्रह्मसत्ता प्राणापान को समान बना कर उदानवह्निरूपी स्वरूप ज्योति में लय कर देती है। जिस प्रकार की योगप्रक्रिया, प्राणाभ्यास पद्धति एवं दिव्यकरणबन्ध जैसी शाम्भवी मुद्राओं, विभिन्न धारणाओं, अन्तः-बहिः द्वादशान्तों, ब्रह्मरन्ध्र, उन्मना-अवस्था और प्राणीय-संध्या युगल का विश्लेषणात्मक लेखा-जोखा नपेतुले पारिमाषिक शब्दों में प्रस्तुत किया है वह शैवागमों में वर्णित शैव योगक्रम के साथ मिलता-जुलता है। हालांकि यह कहना सरासर गलत है कि उनके समय में कोई भी योगप्रक्रिया 'शैव-योग' इस नाम से जानी जाती थी। दूसरी ओर उन्होंने अपने विषय में शैव या वैष्णव होने का दावा कहीं पर भी प्रस्तुत नहीं किया है। ऐसी परिस्थिति में मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि उनमें ऐसी विशिष्ट योग-प्रक्रिया का उन्मेष कैसे हुआ था? इसको शान्त करने के परिप्रेक्ष्य में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साक्षात् श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर गुरु की प्रेरणा और साम्बजी जैसे पात्र एवं

संस्कारवान शिष्य के सद्भाव में कौन सी बात असम्भव हो सकती थी?

भगवान चित्-सूर्यदेव के साथ सम्बन्धित आध्यात्मिक पक्ष को उभारने के साथ साथ साम्ब जी बाहरी स्थूल सूर्यदेव के साथ सम्बन्धित लोकोपकारक पक्ष को भी उभारना भूल नहीं गये हैं। साम्बजी ने अपने इष्ट से यह प्रार्थना पहले ही करके रखी थी कि–हे भगवन्! आपके अनुग्रह से मेरा आवागमन छूट तो जायेगा परन्तु मैं आपसे एक और जन्म की याचना कर रहा हूँ ताकि मैं शेष संसार का भी उपकार कर सकूँ–

'सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-
स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे तदित्थम्।
त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्य कायोऽप्ययोनिः
संसाराब्धौ प्लव इव जगत्तारणाय स्थिरः स्याम्॥' *(सां० पं० पद्य ३४)*

एक बात और। साम्ब जी ने अपने मधुर पद्यों को, अनुभूतिपरक एवं रहस्यगर्भित होने पर भी, उलटबासियों की तरह दुरूह नहीं बनने दिया है। उनकी इस लघु काव्यरचना में यह शैलीगत विशेषता पाई जाती है कि जहां अध्यात्मसम्बन्धी रहस्यों का विश्लेषण सरल एवं सरस काव्यरूप में प्रस्तुत किया गया है वहीं पर उनको बाज़ार में सस्ते दामों बिकाऊ सौदा भी नहीं बनने दिया है। प्रसिद्ध शैव दार्शनिक अभिनगुप्ताचार्य भी अपने समय में आध्यात्मिक रहस्यों का विश्लेषण करते समय ऐसी ही शैली को अपनाये जाने के पक्ष में रहे हैं। उन्होंने तन्त्रसार में स्वयं इस प्रकार लिखा है:–

"न अतिरहस्यम् एकत्र रव्याप्यं, न च सर्वथा गोप्यम्।" *(तं० सा०आ० ४)*

यही कारण है कि साम्बजी ने अपनी इस विशिष्ट काव्यशैली को 'प्रकटगहन' यह नाम दिया है:–

'भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तम्।
श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम्॥' *(सां० पं० पद्य ५२)*

जहां तक कश्मीर के शैवक्षेत्रों का सम्बन्ध है इस कथन में कोई विमति नहीं कि वहां पर प्राचीन काल से ही सूर्य आराधना के साथ सम्बन्धित स्तोत्रों में से साम्ब पञ्चाशिका स्तोत्र को ही विशेष महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता रहा है। वहां के शैवक्षेत्रों से सम्बन्धित भक्तजन (पुरुष एवं महिलायें दोनों) नियमित रूप से इसके पद्यों का सस्वर पाठ प्रतिदिन प्रातःकाल करते आ रहे हैं और आज तक भी यह परम्परा अक्षुण्ण रूप में चल रही है।

शैवाचार्य श्रीक्षेमराज के द्वारा ११वीं शती में इस स्तोत्र का चयन इस पर टीका लिखने के अभिप्राय से करना ही, कश्मीर में इसके विशेष महत्त्व को प्रमाणित करता है। आचार्यजी ने जहां कश्मीर के एक अतिप्राचीन आचार्य भट्टनारायण के स्तोत्रग्रन्थ स्तवचिन्तामणि और अपने परमेष्ठिगुरु प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञाकार उत्पलदेव की कृति शिवस्तोत्रावली पर वृत्तियां लिखी वहीं पर साम्बपञ्चाशिका पर भी वृत्ति लिखना इस तथ्य का संकेत देता है कि प्राचीन काल से कश्मीर में इस स्तोत्र को उल्लिखित दो आचार्यों के द्वारा रचित स्तोत्रग्रन्थों के समकक्ष माना जाता था।

साम्ब पञ्चाशिका में वर्णित चित्-शक्ति का उपासनाक्रम पराभक्ति पर आधारित है। शैवशास्त्रों में निष्णात् भक्तजन पराभक्ति के स्वरूप एवं साधनाक्रम में इसके विशेष महत्त्व से बखूबी परिचित हैं। पराभक्ति, आराधक, आराध्य एवं आराधना इन तीनों के पूर्ण अभेदभाव की उच्चतम अवस्था मानी जाती है। साम्बपञ्चाशिका के प्रत्येक पद्य में इसी पराभक्तिरूपी रसमयता की मादकता कूट कूट कर भरी हुई है। साथ ही इसरचना में वर्णित योगक्रम कश्मीर के शैवागमों में वर्णित शैव-योगक्रम के बिल्कुल अनुरूप है। अतः कश्मीर के शैवसंस्थानों में इस रचना को महान आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

श्रीसाम्ब का भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा इत्यादि तात्कालीन प्रचलित शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार सुयोग्य गुरुओं के द्वारा सम्पन्न हुए। बचपन से ही उनके लिए सुख-समृद्धि एवं ऐश्वर्य की कोई कमी नहीं थी। तात्कालीन यदुकुलोचित स्वाभिमानिता भी उनमें कूट कूट कर भरी हुई थी। अतुल बाहुबल के साथ साथ धनुर्विद्या एवं युद्धकौशल में निष्णात होने के कारण उनकी गणना तात्कालीन महारथियों में की जाती थी। श्रीमद्भागवतपुराण के तृतीय स्कन्ध अध्याय १ के अनुसार महात्मा विदुर ने उद्धव से यदुवंशियों का क्षेम-कुशल पूछने के अवसर पर श्रीसाम्ब के बारे में इस रहस्य का उद्घाटन किया था कि–

'श्रीकृष्णतनय साम्ब अपने पिता के समान ही समस्त रथियों में अग्रगण्य है और वह, वास्तव में, पार्वतीनन्दन स्वामिकार्तिक ही अवतीर्ण होकर, जाम्बवती की कोख से जन्मा है।'

महात्मा विदुर के इस कथन से स्पष्ट होता है कि स्वामिकार्तिक का साक्षात् अवतार होने के कारण दुर्दान्त पराक्रमशालिता श्रीसाम्ब की जन्मजात विशेषता रही होगी।

युवावस्था में पदार्पण करते ही उनके कायिक गठन एवं सर्वाङ्गसौन्दर्य में इतना निखार आया कि तात्कालीन ख्यातिप्राप्त रूपसी रमणियां भी उनकी रूपच्छटा से मन्त्रमुग्ध हो जाती

थी। उनका पाणिग्रहण कौरवाधिपति दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा के साथ हुआ था।

शैवदृष्टिकोण के अनुसार विशुद्ध–पराभक्ति और मुमुक्षु साधक के निजी आध्यात्मिक स्तर के अनुकूल आणव, शाक्त या शाम्भव प्रकार का शैवयोग दोनों पर्यन्ततः स्वरूपप्रत्यभिज्ञा में फलित होते हैं। सिद्धगुरुवर्यों के अहैतुक कृपाकटाक्ष से साधक के हृदय की सारी कुण्ठायें, शङ्कायें और मलत्रय स्वयं गल जाते हैं रविकिरणों की ऊष्मा से हिमानियों की तरह। फलतः साधक के निजी अन्तस् में चित्-शक्ति का आकस्मिक उन्मेष हो जाता है और वही तीव्रतम पारमेश्वर शक्तिपात कहलाता है।' साम्बजी का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। क्योंकि श्रीसाम्ब की जननी जाम्बवती प्रसिद्ध रामभक्त जाम्बवान् की दुहिता होने के नाते जन्म से ही भगवान् वासुदेव की अनन्य भक्ति में तल्लीन रहने वाली महिला थी। परिणामस्वरूप उसकी कोख से जन्मे हुए श्रीसाम्ब के हृदय में अवश्य भक्ति एवं श्रद्धा के संस्कार जन्म से ही अङ्कित होना भी एक स्वाभाविक बात थी। दूसरी ओर भगवान् वासुदेव के साक्षात् योगेश्वर होने में किसी संदेह का अवकाश ही नहीं है। श्रीगीता में भगवान ने स्वयं अपने मुखारबिन्द से जिस योगमार्ग का उपदेश दिया है वह बिल्कुल शैवागमों में वर्णित शाम्भवयोग है। फलतः यह कथन भी निराधार नहीं कि योगेश्वर भगवान का अंश होने के कारण साम्बजी के हृदय में उच्चकोटिक योग (शाम्भवयोग) के संस्कार भी स्वाभाविक रूप में अङ्कित थे। अतः इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उनको भक्ति-श्रद्धा एवं योग के संस्कार अनायास ही पैतृक उत्तराधिकार के रूप में संप्राप्त थे। जीवन के उत्तरभाग में उनके वे जन्मसिद्ध संस्कार भगवत्प्रसाद से सहसा अङ्कुरित एवं फलित हुए और करोड़ों यदुवंशियों में से केवल उनको ही अविनश्वर श्रेयस् की उपलब्धि हुई।

अमृत-वाक्य

सुश्री शारिकादेवी

ज़ोनुम न सोरुय यती प्ययम
गफलथ गऽयम गफलथ गऽयम।
कामन बंअ लोगुस दावसऽय
शुहला करुम स्वंख वावसय
ज़ोनुम न अत्य मा चूर प्ययम॥ गफलथ—

अं सीय म्य स्वर्गक्य जाम नऽल्य
कामन त क्रूधन करिम अंल्य
यिम जामअ भीद गगरव ख्यंयम॥ गफलथ—

गफलथ छिच ज़ीव भावुक चिहन
गफलथ छिच वासनाय हुन्द प्रेयम
गफलथ यहय वंतिथ प्ययम॥ गफलथ—

ज़ीवो क्षण क्षण वुद चं रोज़
अद बोंज़ख अन्दरुचम च़'सोज़।
सोज़स मंन्ज़ंअ य न्यन्दऽर प्ययम॥ गफलथ—

छुसना बं सत च़्यथ शिव-स्वरूप
च़ेनुन ह्यतुम पननुय म्यऽ रूप
तत्त्व-शक्ती वं तिथ प्ययम॥ गफलथ—

धारान दोरुम सकल रूप
मशिरोवुम म्यंऽ पनुन रूप
षट्कंचुक वं तिथ प्ययम॥ गफलथ—

दोह अकि च़्यूनुम छुस बऽकुस
सथ च़्यथ ज़गथ आनन्द युस।
विषयन हंज़य नफरथ गयम॥ गफलथ—

संसारनिश यलि पत्य बऽ चास
केंह काल कऽरुम ईकान्तवास।
सोरुय वुछुम पननुय व्यकास
ही थऽर ज़न फुलिथॅय ब आस
यति प्यठ ब आस तमिकुय यि भास
सोरुय वुछुम संवित् व्यकास
अद काल सॅय गव अत्य ग्रास।
सोरुय वुछुम पननुय व्यकास॥

रूपान्तर–

गफलत

म. ल. कु.

सारा अपना यही त्यागकर जाना
यह मैंने ना समझा
हाय! गफलत ने मुझे ठगाया
हाय! गफलत ने मुझे ठगाया।

विषयों ने बेबसकर डाला,
सुख वायु ने दिल बहलाया।
कहीं लुटेरे लूट न लेंगें,
ना इस तथ्य को मैंने चेता॥ हाय! गफलत०

दिव्याम्बर से मैं शोभित थी,
कामक्रोध ने तड़पाया।
पर भेदवृत्ति के इन चूहों ने
झट वस्त्रों को चाट दिया॥ हाय! गफलत०

गफलत जीव-भाव का लक्षण,
गफलत वासना-शक्ति का बन्धन।
इसी व्याधि से पड़ा सामना,
गफलत गफलत ने भरमाया। हाय! गफलत०

जीव! रहो हरपल हुशियार,
झंकृत होगी मन की तार।
तन्त्री के पंचमस्वर में मैं,
रही लीन सब कुछ बिसराया॥ हाय! गफलत०

लगा परखने जब निजरूप
जाना हूँ सत् चित् शिवरूप।
गले लगी सब तत्त्वशक्तियां,
क्यों अवश कर था भरमाया?॥ हाय! गफलत०

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज

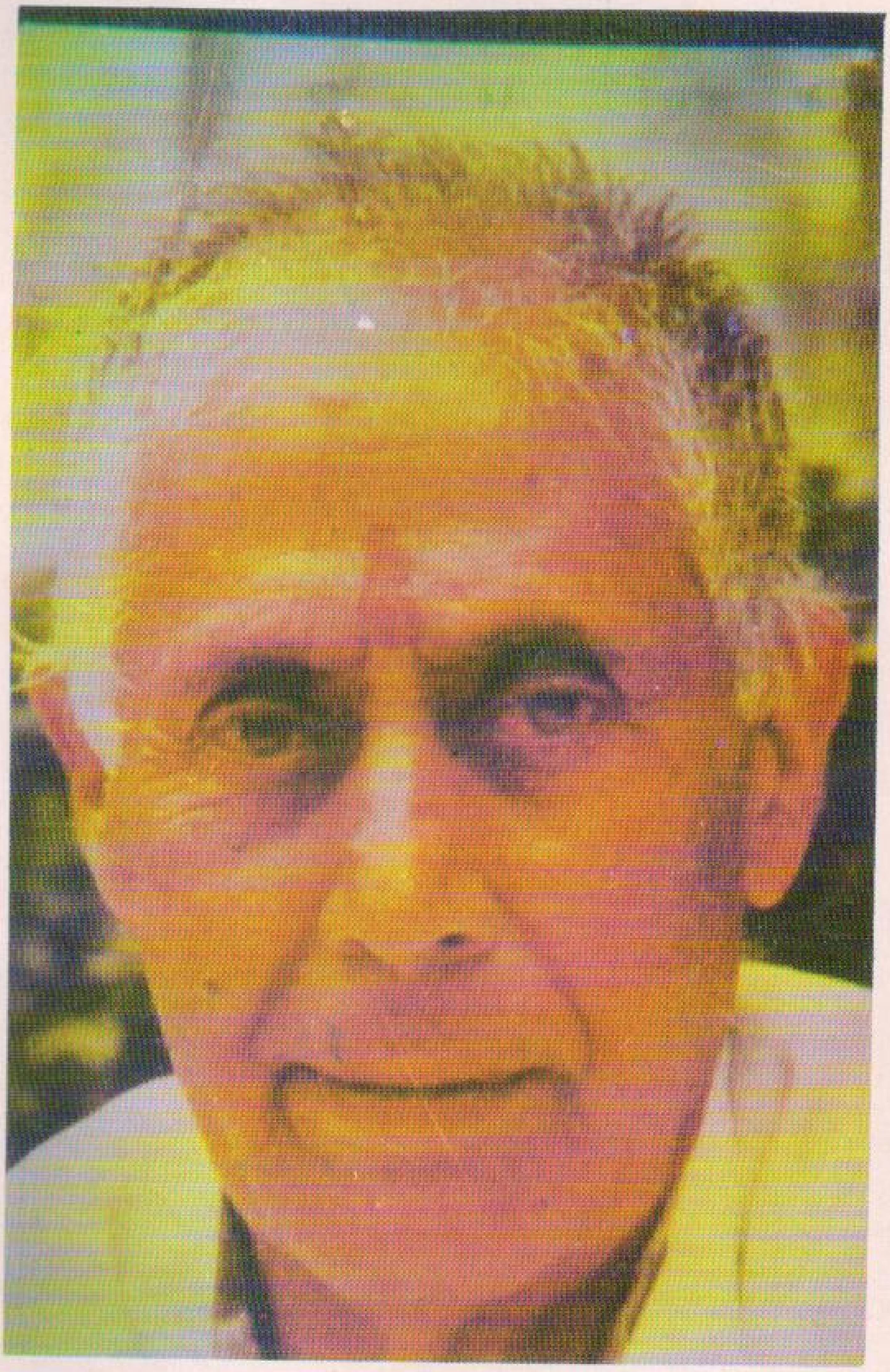

आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

धरी जगद्रूप की लीला,
जिसमें भूली निज पहचान।
षट्-कञ्चुक ने आके घेरा,
हाय! गफलत ने मुझे पछारा॥ हाय! गफलत०

इकदिन मैंने जब यह जाना,
सत्‌चित् जगदानन्द हूँ मैं।
जागी तभी भव-विरति सुज्वाला
अमृत बनी विषयों की हाला॥ हाय! गफलत०

भव से जब मैंने मुंह मोडा,
कुछ पल किया सुनिर्जनवास।
समझा निज वैभव विकास
प्रफुल्लित मालती का आभास।
जिस स्थान से मैं आई थी,
होने लगा उसी का भास
जाना सब संवित् विस्तार,
काल-कराल का हुआ तभी तो
यहीं पूर्णरूप से ग्रास
देखा निज स्वातन्त्र्य विकास॥

जीवनी साहित्य–

सद्‌गुरु गाथामाला

(दूसरा मनका)

गतांक से आगे

स्वामी राम अपने यजमान बालक की अद्‌भुत अवस्था को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और इनके माता पिता को साधारण सा यौगिक उपचार बताकर अपने दैनिक कार्य में व्यस्त हुए। यौगिक उपचार अति सामान्य था। स्वामी जी ने बालक की माता से कहा

कि इसके ब्रह्मरन्ध्र-स्थान पर घर का शुद्ध मक्खन तब तक मलते रहो जब तक मक्खन सूख न जाये। माताश्री इस उपचार को विशेष न समझ कर स्वामी राम से पुनः प्रार्थना करने लगी कि भगवन् क्या इसी उपचार मात्र से मेरा लाल स्वस्थ होगा। स्वामी राम हंसते हंसते उत्तर देने लगे कि आपके लाल को कौन सा विशेष रोग है ? भगवान् शंकर से प्रार्थना करो कि जो बीमारी इसे लगी है उसी बीमारी से स्वामी राम सदा ग्रस्त रहे। यहां इस तथ्य का भी उल्लेख करना असंगत न होगा कि स्वामी राम इस बालक की दिव्य-विभूतियों से बखूबी पहिले से ही परिचित थे, इसीलिए इस बालक के उत्पन्न होने पर जब बालक के पिता ने बालकोत्पत्ति का संदेश सुनाया तो स्वामी राम प्रफुल्लित होके नाचते हुए यह गाने लगे–

घटअ चऽज्य गाश आव चान्ये ज़्यऽनय
जय जय जय देवकी नन्दनय।

हुआ प्रभात तम चला सुदूर
तेरे जन्म से छाया नूर
जय जयकार हो मेरे बाल
जय नन्दनन्दन देवकी लाल।
यह लक्ष्मण है मैं हूँ राम।
सिद्ध हुआ अब जग का काम।

इसी तथ्य की ओर आचार्य रामेश्वर झा ने भी गुरु स्तुति के इस श्लोक में संकेत किया है–मैं राम हूँ तथा यह उत्पन्न हुआ बालक लक्ष्मण है–

ज्येष्ठोप्यसौ मद् गुरु जन्मजात-
हर्षोल्लसत् विस्मृत देहभावः।
रामोऽस्म्यहं लक्ष्मण एष जात
इत्येव गायन् सहसा ननर्त॥

(श्री रामेश्वराचार्य-गुरुस्तुति)

इस प्रकार इनके लड़कपन के साथ सम्बन्ध रखने वाली और भी कई घटनायें हैं जो बहुत ही दिलकश, आश्चर्यकारी और स्वामी जी के बड़पन को जतलाती हैं। बालक लक्ष्मण के योगभ्रष्ट होने का ज्ञान स्वामी राम को पूर्ण रूप से था, अतः योगसिद्धि की तत्क्षणात् प्राप्ति के लिए और साधना की ओर इन्हें उन्मुख करने के लिए सन् १९१३ में इन्होंने इनका यज्ञोपवीत संस्कार अपने हाथों से किया मानो भूमिगत निगूढ़ सम्पत्ति को हस्तगत कराया।

इतना ही नहीं भक्तिमार्ग में भी उनके क्षितिज दूर तक फैलते चले गये और उन्हें थकान के अहसास को पास फटकने नहीं दिया। वे इस कडुवे सत्य को भली-भांति समझने लगे कि भक्ति डरती नहीं, दिव्य-प्रेम मरता नहीं, माधुर्य घटता नहीं तथा देवत्व मिटता नहीं। वायु और जलका, पावक और गगन का जैसे कोई आदि अन्त नहीं होता वैसे ही इस कटु सत्य का भी आदि अन्त नहीं। जहां से भी इसे पढ़ोगे, समझोगे। सागर की गति को मेढ़े लगाकर नहीं रोका जा सकता। रावण और कंस आते जाते है पर राम और कृष्ण न कहीं से आते हैं न कहीं जाते हैं। स्वामी राम जी ने अपनी ज्ञानगंगा में बालक को आपादमस्तक उन्मज्जित करने के पश्चात् अपने प्रधानशिष्य महताब काकजी महाराज को इन्हें सौंपकर अपना अधूरा कार्य सम्पन्न किया और स्वयं वे सन् १९१५ में माघ कृष्ण चतुर्दशी को शैवधाम को सिधारे। स्वामी महताब काकजी बालब्रह्मचारी और वैराग्यभाव से सुशोभित थे। इनकी ही शिक्षा-दीक्षा में अभ्यास परायण रहकर हमारे गुरुवर्य लक्ष्मण जी शुक्लपक्ष की चन्द्रकला की नाई दिन प्रतिदिन वृद्धि पाकर पूर्णिमा के सुधाकर बने।

अनुभव के साथ साथ शास्त्रों में भी पारंगत होना सन्त के लिए सोने पर सुहागा सा होता है। शास्त्रज्ञान, परामर्श और साक्षात्कार इन तीन भित्तियों पर ही समावेश का महल खड़ा रहता है। क्योंकि शास्त्रज्ञान के विना अहंपरामर्श और अहंपरामर्श के विना साक्षात्कार का होना आकाशपुष्प के समान है। अतः स्वाध्याय पिपासा को शान्त करने के लिए हमारे गुरुवर्य ने जिस भागीरथी का सहारा लिया उसके प्रवर्तक कश्मीर रिसर्च कार्यालय के मुख्य पंडित श्री महेश्वर जू राजदान जी थे। कहते हैं कि जब स्वामी जी के पिताश्री नारायण जू ने स्वामी जी के लिए श्री महेश्वर जू राजदान को संस्कृत भाषा साहित्य और शैव शास्त्र का यथोचित ज्ञान प्राप्त कराने के लिए, घर पर बुलाया तो उस समय बालक लक्ष्मण अपने मित्रों व सगे सम्बन्धियों के साथ शतरंज खेलते थे। पिताश्री के कहने पर कि आचार्य जी संस्कृत पढाने के लिए आये हैं, शीघ्रता से आवो, बालक लक्ष्मण टस से मस नही हुए। यहां तक कि आचार्य जी स्वयं उस कमरे की ओर चले जहाँ विद्यार्थी लक्ष्मण शतरंज खेलता था। पर बालक ने उसे देखकर कहा कि आज वह नहीं पढेगा कल से पढेगा" यह सुनकर श्री महेश्वर जू राजदान ने कहा "त्राहि त्राहि प्रथमेग्रासे मक्षिकापातः" अर्थात् भोजन के पहिले ही कौर में मक्खी आ टपक पडी। यह कहते कहते वे रुष्ट होकर निकल पडे। बालक लक्ष्मण को इस असावधानता का ज्ञान कुछ काल पश्चात् हुआ और वे पश्चाताप करते करते पिताजी से आचार्यवर को दूसरे दिन आने के लिए प्रार्थना करने लगे। पर आचार्यवर बहुत समय के पश्चात् अनुनय-विनय करने पर पुनः पढाने को राजी हुए। फिर इनकी ही देखरेख में नियमपूर्वक संस्कृत व्याकरण तथा शैवशास्त्रों का अध्ययन करके स्वामी जी महाराज ने

गहरी सूझबूझ का परिचय दिया। यद्यपि अपने दीक्षगुरु स्वामी महताब काकजी से श्री अभिनवगुप्त के गीतार्थसंग्रह का चर्वण तथा मन्थन श्री ईश्वरस्वरूप जी ने बहुत पहिले किया था फिर भी प्रधान आगमग्रन्थों तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन सम्बन्धित शैव ग्रन्थों का सम्यक् रीति से स्वतन्त्र अध्ययन करके स्वानुभूतिज्ञान में चार चांद लगाये। इस प्रकार दर्शन के इस क्षेत्र में महारथ प्राप्त करके स्वामी लक्ष्मण जी प्रधान शैवाचार्यों में गिने जाने लगे। इनकी विद्वत्ता की धाक देश-विदेश में जमने लगी जिसके परिणामस्वरूप न केवल देशीय विद्वानों का तांता अपितु विदेशी विद्वान भी अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए तथा अपने भिन्न भिन्न कश्मीर-शैव दर्शन सम्बन्धित शोधप्रबन्धों की पूर्ति के लिए इनके आश्रम पर पधारने लगे। इनमें फ्रांस की डा० सिलबर्न, कलीफोर्निया के जान ह्वेग आदि प्रमुख हैं। देशीय विद्वानों में डा० जयदेवसिंह ने स्वामी जी महाराज की छत्रच्छाया में बैठकर प्रत्यभिज्ञा हृदयम् और परात्रिंशिका जैसे आगम ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में विस्तृत अनुवाद करके दार्शनिक क्षेत्र को चौंकाया। जम्मू कश्मीर राज्य के संस्कृत विद्वानों में विरला ही कोई ऐसा होगा जो स्वामी जी की विद्वत्ता से प्रभावित न हुआ हो और इनके शास्त्रज्ञान का ऋणी न हो। इनका व्याख्या करने का ढंग ही अनूठा था। पाषण बुद्धि वाला व्यक्ति भी इनकी शब्दार्थ ऊष्मा से विच्छिन्न होकर विगलित हो उठता था। अपने अनुभव जन्य ज्ञान के आधार पर ये समय समय पर शब्दों की नवीनतम (latest) व्याख्या देकर जिज्ञासुओं को अचम्भे में डालते थे। वास्तव में अहर्निश साधना में लीन होने के कारण क्षण क्षण के पश्चात् उनमें नवीनता आती थी– भावों में, ज्ञान में, और अनुभूति में। जिससे उनकी रमणीयता में भी नवीनता का नव नव आभास होता था। कहा भी है–

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

इसी कारण रविवासरीय व्याख्यानों में व्याख्या करते करते ये प्रायः पूर्व धारणा का खण्डन करते हुए नव्य शैली में नये अन्दाज में उसी भाव को उपस्थित जन समुदाय के समक्ष रखते थे और श्रोतागण देखते ही रहते थे।

बाल्यकाल से ही वैराग्य भावना की ओर उन्मुख होने के कारण स्वामी जी महाराज को अपने माता पिता विवाह करने के लिए बाध्य करने में असफल हुए। यद्यपि माता पिता ने इन के विवाह की बात कई बार चलायी पर अग्नि में डाली गई घृत सिंचित आहुति के समान इस घटना से उनकी वैराग्यवृत्ति अधिक भड़क उठती थी। यहां तक कि ये घर से भाग कर दूर एक वन्यस्थली की ओर चल पडे जहां नियत रूप से प्राकृतिक सौन्दर्य के आवरण में सब कुछ भूल कर अद्वितीयावस्था में विचरने लगे। माता 'अरण्यमाली' अपने

लाडले के बिछोह में छटपटाने लगी। घर के दैनिक कार्यक्रम की ओर कोई ध्यान न देकर वह इधर-उधर बालक की खोज में अपने पति के साथ साथ दूर दूर तक चली और अन्य सम्बन्धियों की सहायता से 'साधुगंगा' नामक स्थान पर उन्हें तपश्चर्या में लीन पाया। यह स्थान श्रीनगर से कुछ ८० कि.मी. की दूरी पर था। पर्वतीय उपत्यकाओं में स्थित इस स्थान को विभिन्न वृक्षों ने चारों ओर से घेर कर रखा था। कलकल करती हुई नदी का निर्मल जल 'साधुगंगा' नाम के अनुरूप ही पवित्र और शान्तिप्रद था। मातापिता के अत्यन्त आग्रह करने पर भी बालक लक्ष्मण लौटने को राजी न हुए। पिताश्री को अकेले ही जाने की आज्ञा देकर, बालक की माता अपने पुत्रमोह के आवेश में लौटने को तैयार नहीं हुई और अपने बेटे के पास ही तब तक छाया की तरह साथ साथ रही जब तक उस वन्य भूमि के परिसर में यथोप्सित कर्म समाप्त करके बालक को वह अवस्था हाथ न आई जिसके लिए उसने इतना खतरा मोल लिया था और घर के सर्वसुलभ सुखों को तिलाञ्जलि दी थी।

स्वामी लक्ष्मण जी साधारण जीव न होकर अलौकिक व्यक्तित्व से परिपूर्ण थे। इनके इस असाधारण व्यक्तित्व के सामने किसी की एक भी नहीं चलती थी। शास्त्र प्रसिद्ध चौंसठ कलाओं में से कोई भी कला ऐसी नहीं थी जिसके पारखी होने का गौरव इन्हें नहीं था। परभैरव की इन पर इतनी असीम कृपा थी कि कोई भी विशेषज्ञ इनके सामने अपनी सर्वज्ञता का दावा नहीं कर सकता था। तमाम अरूपताओं के घिनौने रूप को भेदकर इन्होंने ज्ञान का प्रकाश फैलाया पर किसी को इस प्रकाश से चौंधियाया नहीं। वे शाश्वत आनन्द की उस मंजिल तक पहुंचे थे जहां सुख की मरीचिकाओं की पहुंच नहीं थी, और संसार की हवायें भक्ति की बहती नौका को इधर-उधर हिचकोले लेने के लिए मजबूर नहीं कर सकती थी। उनका ज्ञान वह थोथा ज्ञान नहीं था जो खुद भी वीरानों में भटकता है और पीछे आने वालों को भी भटकाता है, पर उनका ज्ञान पवित्ररश्मिजाल को समेट कर चतुर्दिक बिखेरने में लगा था। उपदेश अमृत से लबालब भरे हुए इनके प्रवचन किसी विशेष धर्म को पालने वाले व्यक्ति के लिए न होकर किसी भी धर्मानुयायी के लिए लाभदायक होते थे। क्योंकि कश्मीर का शैवदर्शन दूसरे फलसफों से इसीलिए अलग थलग है कि इसमें बाहिरी अकीदत के नियमों पर उतना ज़ोर नहीं दिया जाता जितना कि रूहानी अकीदत पर। हमारे गुरु महाराज पुरुष के साथ साथ नारी को भी रुहानी दर्जा पाने के लिए पूर्ण अधिकारिणी समझते थे। वे कहा करते थे–

योक्ता संवत्सरात्सिद्धि-
रिह पुंसामभयात्मनाम्।

Shelter in harmony with nature

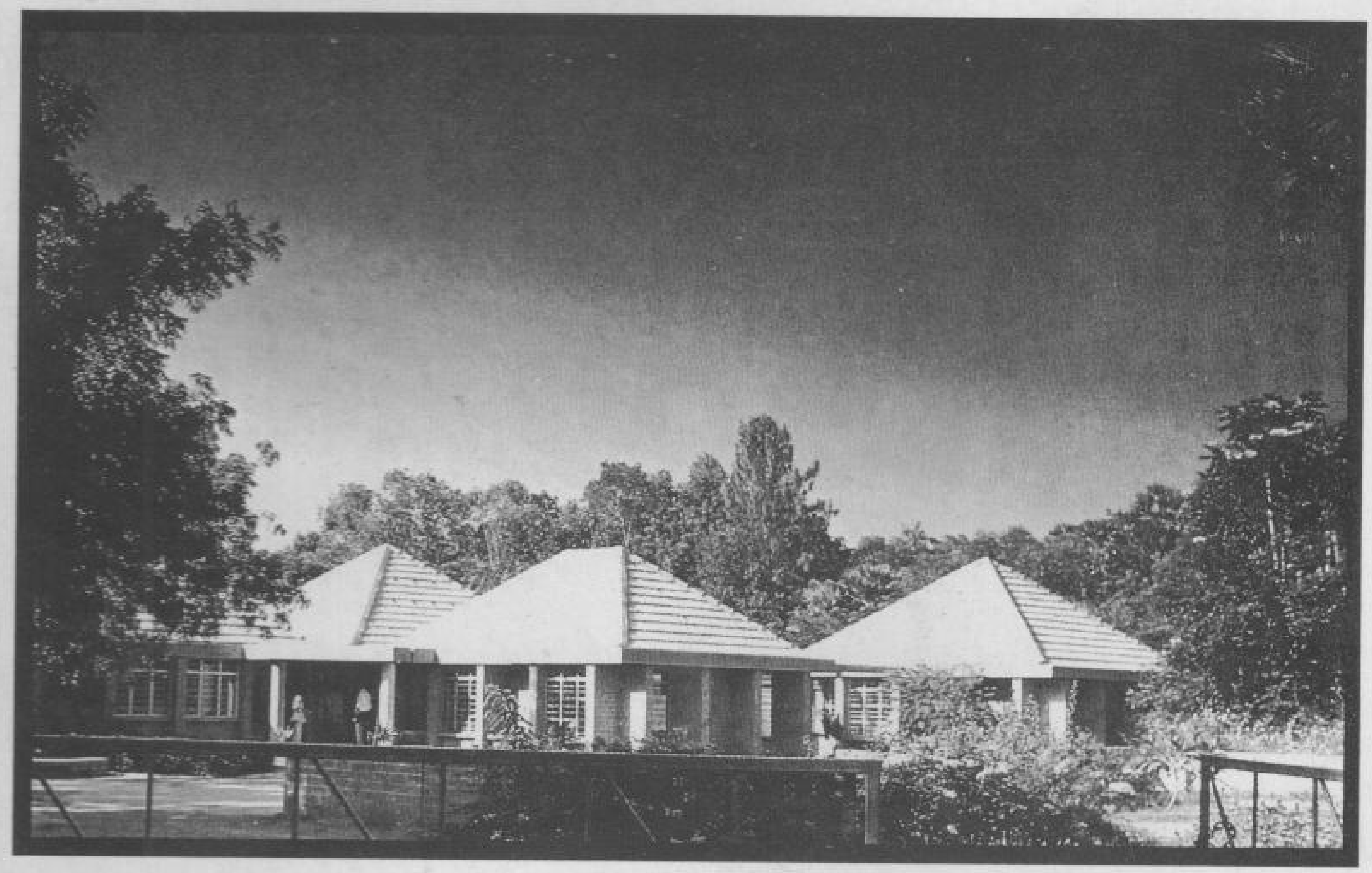

***HUDCO** provides options.*

Show your concern. Join the environment-friendly sustainable shelter movement.

*Contact any of the nearest 450 Building Centres or **HUDCO** office.*

Eco-friendly, appropriate, durable, energy saving aesthetically pleasing and cost-effective Building Materials for :

- Innovative housing in urban and rural areas throughout India.
- Hudco encourages use of locally available resources and waste materials such as *fly ash, rice husk,coconut pith, agri-waste, wood waste, sisal, coir & glass fibre, clay, gypsum, mud, sand, lime, stone, bamboo etc.* and indigenous construction techniques with emphasis on creating clean, green and healthy built environment.

hudco

Housing & Urban Development Corporation Ltd.
HUDCO Bhawan, India Habitat Centre, Lodhi Road,
New Delhi-110003 Tel: 4615343 Fax (011) 4625308